'प्रयोगवाद्' से 'नयी कविता' तक

'तारसप्तक' : 'तारसप्तक' के बाद 'तीसरा सप्तक'

'तारसप्तक' के प्रकाशन से हिन्दी की प्रयोगशील कविता का—नयी कविता जिसका परवर्ती विकास है—आरम्भ माना जाता है। यहाँ स्पष्ट कर दिया जाय कि 'नयी कविता' 'प्रयोगवाद' का विकास ही नहीं उससे किसी अर्थ में प्रस्थान भी है। यदि नयी काव्यसंवेदना के प्रारम्भिक रुख को पहचानना हो तो 'तारसप्तक' (१९४३ ई०) से पहले के प्रयत्नों और प्रयोगों को भी दृष्टि में रखना होगा। यद्यपि 'तारसप्तक' के कवि-सम्पादक अज्ञेय ने अपनी ओर से यह सफाई दी है कि 'तारसप्तक' किसी भी रूप या अर्थ में किसी साहित्यिक आन्दोलन या प्रवृत्ति से प्रेरित न था। उसके कवि 'प्रयोगवादी' नहीं थे, शायद उस अर्थ में भी नहीं जो सम्पादक ने पहले अपनी भूमिका में उन पर आरोपित किया और जिसे वाद में सैद्धान्तिक आधार दे दिया गया। उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों तत्कालीन सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों की स्वाभाविक और लगभग अनिवार्य परिणति थी।" ('तारसप्तक' : दूसरा संस्करण : पृष्ठ ३२)—फिर भी सप्तकों के आधार पर ही 'प्रयोगवाद' एक काव्यात्मक आन्दोलन की तरह प्रतिष्ठित हो गया है जिसके प्रवर्त्तक अज्ञेय माने जाते हैं। अब इसे लेकर कोई बहस व्यर्थ होगी कि एक काव्यात्मक आन्दोलन के रूप में 'प्रयोगवाद' का औचित्य है या नहीं—जैसे भी सही, 'प्रयोगवाद' हिन्दी कविता के आधुनिक इतिहास की एक स्थापित वास्तविकता है और उसकी प्रवृत्तियाँ, उपलब्धियाँ और सीमाएँ पहचानी जा सकती हैं। 'प्रयोगवाद' आधुनिक हिन्दी कविता की वह धारा है जिसमें अज्ञेय के अनुसार "नये सत्यों या नयी यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी।"

'तारसप्तक' के सम्पादकीय वक्तव्य में ही घोषित किया गया था कि संकलित कवि (गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा, अज्ञेय) किसी एक 'स्कूल' के नहीं हैं—उनमें मतैक्य नहीं है—और यह कि काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण ही उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। सत्य को पर्वनिर्धारित और अपने में समाप्त न मानकर अन्वेषण-वृत्ति को महत्त्व देते हुए ही अनुभव किया गया कि 'सामूहिक व्यक्तित्व' एवं 'रचनात्मक स्वतन्त्रता' के बीच का द्वन्द्व कवि-कर्म की मौलिक समस्या को कहाँ तक प्रभावित करता है।

यह अवश्य है कि कवि और कविता के स्वभाव का परिवर्तन 'तारसप्तक' से पहले ही 'रूपाभ' के प्रकाशन (१९३८ ई०) के साथ प्रत्यक्ष हो गया था—परिवर्तन की यह प्रारम्भिक आकांक्षा इतनी तीव्र थी कि नरेन्द्र शर्मा जैसे कवि को भी लिखना पड़ा—'कुछ भी तो हो इस जीवन में, हो चाहे वह दुर्घटना ही।' यही समय था जब निराला से लेकर केदारनाथ अग्रवाल तक कवियों की काव्यभंगिमा, भापा, छन्द-शिल्प आदि में नये प्रकार की ऋजुता स्पष्ट होने लगी थी। ('तारसप्तक' में उपलब्ध 'व्यंग-विद्रूप की प्रवृत्ति' और 'अनुभूतियों के स्थानीकरण की प्रवृत्ति' का सम्बन्ध यदि तारसप्तक-पूर्व की प्रवृत्तियों से जोड़ लिया गया है 'तारसप्तक' : ऐतिहासिकता और प्रासंगिकता : केदारनाथ सिंह : 'आलोचना' : जुलाई-सितम्बर, १९६७) तो इसमें असंगत कुछ नहीं है।

मैंने अन्यत्र ('नयी कविता का परिप्रेक्ष्य' : १९६८ ई०) दिखाने की चेष्टा की है कि 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' दोनों ही प्रवृत्तियाँ छायावाद की प्रतिक्रिया में विकसित हुईं और उनके लक्षण धीरे-धीरे एक-दूसरे से विलग हुए या कर लिये गये पर असन्दिग्ध रूप से छायावाद के कुछ गहरे अन्तर्विरोध 'प्रयोगवाद' की काव्यानुभूति में बने हुए हैं। रोमाण्टिक सन्देह और अनिश्चय से प्रेरित प्रयोगवादी कवियों की सौन्दर्याभिरुचि में यथार्थ अनुभवों से अलगाव की प्रवृत्ति भी काम कर रही थी—जिसके पोपक स्वयं अज्ञेय थे। ऐसे सौन्दर्यवादियों पर सीधी चोट करते हुए मुक्तिबोध को कहना पड़ा—"वे सौन्दर्यवादी लोग यह भूल गये कि बंजर काले-स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है, गली के अँधेरे में उगे छोटे-से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है।" ऐसे अन्तर्विरोधों के बावजूद १९३८ ई० से हिन्दी कविता के स्वभाव में जो परिवर्तन आने लगा था, उसे 'तारसप्तक' ने एक सम्पूर्ण रूप दे दिया। नामवर सिंह ने 'कविता के नये प्रतिमान' में इसी स्थिति की ओर संकेत करते हुए लिखा है—"समकालीन संकट की स्वीकृति, मानसिक विभाजन का प्रतिरोध और यथार्थग्राही यथातथ्य काव्य-भापा का निर्माण—ये तीनों कार्य १९३८ ई० के आसपास ही शुरू हो गये थे। सिद्धान्त के स्तर पर छायावादी भावुकता, काल्पनिकता और आदर्शवाद और उत्तर-छायावादी बेफ़िक्री से भरी अल्हड़ता की निस्सारता सिद्ध हो चुकी थी। आवश्यकता थी तो उसे सामूहिक प्रभावशाली रूप देने की। सन् १९४३ में 'तारसप्तक' का प्रकाशन उसी आवश्यकता की पूर्ति है।"

'तारसप्तक' से पहले और बाद के प्रकाशनों पर दृष्टि डालने से काव्यसंवेदना के क्रमिक विकास का अनुमान किया जा सकता है—'भग्नदूत' (१९३३ ई० : अज्ञेय), 'युगान्त' (१९३७ : पंत), 'निशानिमन्त्रण' (१९३८ : बच्चन), 'युगवाणी' (१९३९ : पंत), 'कुकुरमुत्ता' (१९४० : निराला), 'मंजीर' (१९४१ : गिरिजाकुमार माथुर), 'इत्यलम्' (१९४६ : अज्ञेय), 'धरती' (१९४६ : त्रिलोचन), 'युग की गंगा' (१९४६ : केदारनाथ अग्रवाल), 'नाश और निर्माण' (१९४७ : गिरिजाकुमार माथुर), 'हरी घास

पर क्षण भर' (१९४९ : अज्ञेय)—इन काव्यकृतियों के बाद १९५१ में 'दूसरा सप्तक' प्रकाशित हुआ जिसमें संकलित कवि हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती। इन कवियों की काव्य-प्रकृति में भी विभिन्नता कम नहीं है यद्यपि वह उतने प्रखर रूप में व्यक्त नहीं हुई जितनी 'तारसप्तक' में।

'तारसप्तक' के कवियों में अज्ञेय और मुक्तिबोध ही ऐसे कवि हैं जिनका विकास भिन्न दिशाओं में होकर भी आगे की कवि-पीढ़ी को प्रभावित कर सका है—यह दूसरी बात है कि समय के बढ़ने के साथ अज्ञेय की प्रतिभा जितनी ही क्षीण और उसी अनुपात में प्रभावहीन हुई है—उतनी ही मुक्तिबोध की कवि-प्रतिभा की छाप (उनकी मृत्यु के बावजूद !) युवापीढ़ी के काव्य-स्वभाव पर गहरी होती गयी है। 'तारसप्तक' के बाद अज्ञेय के काव्य-विकास की प्रक्रिया में उन कविताओं का कहीं अधिक महत्त्व है जो उनके संग्रह 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९) में प्रकाशित हैं। ये कविताएँ एक ओर कवि के लिए अपने व्यक्तित्व की खोज में सहायक होती हैं, दूसरी ओर व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष और संक्रमणकालीन मानव-नियति के प्रत्याशित-अप्रत्याशित तनाव का आभास भी देती हैं। 'कितनी नावों में कितनी बार' तथा सद्यःप्रकाशित 'सागर मुद्रा' तक आते-आते अज्ञेय का काव्यशिल्प व्यक्तित्व की रूढ़ियों में सीमित हो गया है। यही कारण है कि आज की कविता को अज्ञेय की दृष्टि के अनुसार समझना कठिन है जब कि '४० से '५० तक की, बल्कि कुछ आगे की भी कविता की सर्वोत्तम व्याख्याएँ उनकी ही कविताओं में मौजूद हैं। ऐसी कविताओं में अनुभव की सुखद आत्मीयता अज्ञेय की भाषा को भी अधिक आत्मीय बनाती है। 'हरी घास पर क्षण भर' और 'बावरा अहेरी' की गीतात्मक कविताओं में कभी-कभी ऐसे ताजे प्रकृति-चित्र मिल जाते हैं जो असंगतियों के बीच की मार्मिक लय को पकड़ने में सफल होते हैं। यहाँ कवि आन्तरिक व्यथा के अनुभव को बिना किसी नाटकीय मुद्रा के प्रकाशित करने में समर्थ जान पड़ता है :

> क्या जरूरी है दिखाना तुम्हें वह जो दर्द
> मेरे पास है

प्रत्यक्ष है कि आत्मविज्ञापन नहीं, आत्मान्वेषण ही यहाँ कवि का अभीष्ट है। ऐसी कविताओं में अज्ञेय के प्रतीक भी 'सत्य के निस्संग साक्षात्कार' में सहायक हैं। परवर्ती कविताओं में वे रूढ़ हुए हैं और कवि की अमूर्त रहस्यमयता को अपूर्व आध्यात्मिक संसार में ले जाते हैं।

'तारसप्तक' के वक्तव्य में मुक्तिबोध ने स्पष्ट कहा था—"मैं कलाकार की 'स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति' पर बहुत जोर देता हूँ। आज के वैविध्यमय उलझन से भरे रंग-बिरंगे जीवन को यदि देखना है तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एक बार तो उड़कर बाहर जाना

ही होगा।" उन्होंने जीवन के वैविध्यमय विकास-स्रोत को देखने के लिए भिन्न-भिन्न काव्य-रूपों, यहाँ तक कि नाट्य-तत्त्व को भी कविता में स्थान देने की आवश्यकता का अनुभव किया था। मुक्तिबोध अपनी सर्जनात्मक प्रक्रिया को कोई अचेतन व्यापार नहीं मानते। वे उसे ठोस वास्तविकता का साक्षात्कार मानते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय—मुक्तिबोध की कविताएँ आत्मसाक्षात्कार की कविताएँ हैं और यह सच है कि जीवन के कठोर संघर्ष को एक बार जीवन में और दूसरी बार कविताओं में जीकर उन्होंने अपनी कविताओं को एक बृहत्तर अर्थ दे दिया है। उनके अनुभवों की जड़ें मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं में तो हैं ही—पूरे समकालीन इतिहास में भी हैं। '६० के आसपास के कवियों की भाषा में स्थितियों के जटिल तनाव, अकेलेपन की भयानकता की जो स्पष्ट छाया दिखायी देती है उसके पहले प्रयोगकर्ता मुक्तिबोध ही हैं। यों ही नहीं है कि 'अँधेरे में' शीर्षक कविता आज के समग्र जटिल और ऐतिहासिक अनुभवों का दस्तावेज बन गयी है जिसका आरम्भ ही इस प्रकार की रहस्यमय नाटकीयता की सृष्टि करता है—

> जिन्दगी के........
> कमरों में अँधेरे
> लगाता है चक्कर
> कोई एक लगातार;

यह रहस्यमय व्यक्ति किसी तिलस्मी खोह में गिरफ्तार है—उसके पैरों की आवाज सुनायी देती है पर वह दिखायी नहीं देता।

> इतने में अकस्मात् गिरते हैं भीत से
> फूले हुए पलिस्तर
> खिरती है चूने-भरी रेत
> खिसकती हैं पपड़ियाँ इस तरह
> खुद-ब-खुद
> कोई बड़ा चेहरा बन जाता है

कविता के 'मैं' का यह पक्ष, जिसे नामवर सिंह ने कविता का 'आत्मनिर्वासित नायक' कहा है, अनुभवों के क्रम में जान लेता है कि—

> वह रहस्यमय व्यक्ति
> अब तक न पायी गयी मेरी अभिव्यक्ति है,
> पूर्ण अवस्था वह
> निज-सम्भावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं की,
> मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव,
> हृदय में रिस रहे ज्ञान का तनाव वह,
> आत्मा की प्रतिमा।

शहर में छिड़ी हुई क्रान्ति के क्रम में वह सर्वथा नये रूप में प्रकट होता है और खो जाता है—उसकी खोज 'परम अभिव्यक्ति की खोज' बन जाती है और खोज की इस प्रक्रिया में हर गली, हर सड़क पर एक-एक चेहरे को, गतिविधि, चरित्र, हरएक आत्मा के इतिहास, हरएक देश व राजनीतिक परिस्थिति को सीधे देखने की आवश्यकता जान पड़ती है।

गिरिजाकुमार माथुर मूलतः रूमानी संवेदना के कवि हैं—और विषय से अधिक टेकनीक पर बल देते रहे हैं। उनकी प्रारम्भिक कविताओं में रूप, गन्ध, स्पर्श की रागात्मक संवेदना मोहक रूपों में प्रकट हुई है पर आगे जिन कविताओं में वे इतिहास, विज्ञान और संस्कृति के तर्कों को काव्यदृष्टि से सुलझाने की कोशिश करने लगे हैं वे उनके पाठकों को सबसे पहले अविश्वसनीय जान पड़ती हैं।

'तारसप्तक' से बाहर के जिन कवियों के विकास की छाप आगे की कविता पर है उनमें केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन प्रमुख हैं—'तारसप्तक' के कवि रामविलास शर्मा की कविताएँ इन्हीं कवियों के कृतित्व के नज़दीक जान पड़ती हैं। गाँव की स्थानीय प्रकृति से इनका लगाव शाब्दिक ही नहीं है—

हवा हूँ हवा मैं बसन्ती हवा हूँ।
चढ़ी पेड़ महुआ थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर चढ़ी आम-ऊपर
उसे भी झकोरा किया कान में कू
उतरकर भगी मैं हरे खेत पहुँची
वहाँ गेहुँओं में लहर खूब मारी
पहर-दोपहर क्या अनेकों प्रहर तक........

शमशेर बहादुर सिंह ने केदारनाथ अग्रवाल के ताजे संग्रह 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' की समीक्षा करते हुए लिखा है—"केदार बुनियादी तौर पर एक 'नार्मल' रोमानी कवि हैं, छायावादी—रोमानी नहीं। शायद इसीलिए छायावादोत्तर काल में वह शीघ्र ही प्रगतिशील और फिर मार्क्सवादी विचारधारा के कवि हो गये।" इसके बाद भी केदार की सौन्दर्य-संवेदना न केवल तीखी है, बल्कि अपनी सहजता में भी वह एक सधा हुआ शिल्प प्राप्त कर सकी है। केदारनाथ अग्रवाल की कविता ऐन्द्रिक अनुभूतियों से गम्भीर और पहेली की अपेक्षा कुछ जटिल अनुभूतियों की ओर अग्रसर हुई है :

वह
सुबह की चाँदनी है
ओस से भीगी हुई

धूप का दर्पण लिए
ओट में गूँगी खड़ी
वह
नदी के नील जल की वासना है
जो कगारों को डिगाए जा रही है

केदार के ऐसे 'कोमल अन्तरमानसी चित्रण' (शमशेर) से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि जीवन की विरूपता और ऊब से वे निरपेक्ष हैं—उनके लिए भी उदास दिन 'पेंसन पाये चपरासी-सा' या 'जुए में हारे जन-सा' आता है, चला जाता है।

नागार्जुन की कविताएँ मुख्यतः व्यंगपूर्ण हैं और अपने स्पष्ट खरेपन के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रकृति और परिवेश के प्रति एक मुक्त 'यात्री' का स्वभाव उनकी कविता को अधिक स्वाभाविक छन्द और नाटकीय गति देता है। त्रिलोचन की खोज केदार की खोज से इस अर्थ में अभिन्न है कि वे अपने 'व्यक्तित्व का सामाजिक व्यक्तित्व से सार्थक रचनात्मक सामंजस्य' स्थापित करना चाहते हैं और इसी प्रक्रिया में इस सामंजस्य का काव्यात्मक उपयोग करना चाहते हैं। सानेटों में त्रिलोचन का व्यक्तित्व अपने पूरे तेवर के साथ व्यक्त हुआ है।

इधर त्रिलोचन सॉनेट के ही पथ पर दौड़ा
सॉनेट, सॉनेट, सॉनेट, सॉनेट, क्या कर डाला
सॉनेट से मजाक़ भी उसने खूब किया है
जहाँ-तहाँ कुछ रंग व्यंग का छिड़क दिया है

सप्तकों से बाहर इन कवियों का मूल्यांकन किये बिना हिन्दी कविता के समकालीन परिदृश्य को समझना कठिन है। यदि केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन और नागार्जुन 'दूसरा सप्तक'—के कवि होते, जिन्हें सम्पादक ने सहयोग के लिए आमन्त्रित किया था, तो प्रयोगवाद के बहुत-से अन्तर्विरोध अपने-आप मिट गये होते और नयी कविता के प्रतिष्ठित होने के साथ हिन्दी कविता का जो व्यापक चित्र बन पाया उसके लिए और पहले जमीन तैयार हो गयी होती।

'प्रयोगवाद' का काव्यशास्त्र यदि अज्ञेय की देन है तो उसकी असंगतियाँ भी उन्हीं की देन हैं। उनकी मान्यता है: "जैसे-जैसे हमारी बौद्धिक सहानुभूति गहरी होगी, अभिव्यक्ति में व्यंजना आती जायेगी और वह सीधा संवेदन कम होता जायगा, जो किशोर कविता में होता है।" यह केवल विडम्बना नहीं है कि जिस सीधे संवेदन को आज का कवि कविता का महत्त्वपूर्ण प्रयोजन मानता है, अज्ञेय उसे किशोर कविता का लक्षण मानते हैं। 'दूसरा सप्तक' के कवियों में शमशेर और रघुवीर सहाय की कविताओं ने प्रयोगवाद के काव्यशास्त्र को सबसे ज्यादा समृद्ध किया। यह रोचक है कि जाने-अनजाने

'अन्वेषण' की अर्थ-दिशा 'तारसप्तक' से 'दूसरा सप्तक' तक बदल गयी है। जहाँ 'तारसप्तक' ('४३) में 'राहों के अन्वेषण' की चर्चा की गयी थी, वहाँ 'दूसरा सप्तक' ('५१) में 'आत्मान्वेषण' की बात की जाने लगी। इसी समय 'प्रतीक' के सम्पादकीय वक्तव्य में 'ईमानदारी' की माँग को परिभाषित करते हुए अज्ञेय ने लिखा : "इस अर्थ में ईमानदारी एक निरपेक्ष गुण है कि वह अभिव्यक्ति की प्रेरणा है; जहाँ यह प्रेरणा वास्तविकता की अपेक्षा में आती है वहाँ उसकी सीमाएँ बनाने लगती हैं और यह सीमाएँ वहीं तक बनती हैं। जहाँ तक हम वास्तविकता के प्रति जागरूक नहीं हैं।" ('प्रतीक' नवम्बर ('५१)।

'दूसरा सप्तक' के कवि शमशेर विचारों में जितने स्पष्ट जान पड़ते हैं, काव्य प्रक्रिया में उतने ही उलझे हुए और दुर्बोध प्रतीत होते हैं। अपने वक्तव्य में यद्यपि उन्होंने साफ-साफ कहा है—"टूटते हुए मध्यवर्ग के मुझ जैसे कवि उस भेद को, जहाँ वह है वहीं से पा सकते हैं, वे उसके पाने की कोशिश में लगे हुए हैं। कविता में हम अपनी भावनाओं की सचाई खोजते हैं। उस खोज में उस सचाई का अपना खासा रूप भी हमें मिलना ही चाहिए जिस हद तक भी मुमकिन हो क्योंकि किसी भी चीज का असली रूप उस चीज से अलग तो सम्भव नहीं।" पर अपनी कविताओं में वे जिस शिल्प का उपयोग करते हैं वह प्राय: साधारण पाठक को चिन्तित करता है—शिक्षित संवेदना के अभ्यास से ही उसकी अर्थवत्ता ग्रहण की जा सकती है। 'शाम' कविता में जब वे लिखते हैं—

नींबू का नमकीन-सा शरबत, शाम
(गहरा, नमकीन)........
प्राचीन ईसाई चीजों-सी कुछ
राजपूताने की-सी बहुत कुछ
गहरी सोन-चम्पई
सोन-गोरिया शाम !
........शान्त !
तुम्हारी साड़ी की-सी
शाम। बहुत परिचित।
ओ, ओ,
मेरे दिल के अजीब फैलाव की
लातीनी पीतल—काँसे के घण्टों की-सी
क्लासिक—
शाम।........

तो असम्बद्ध कल्पनाओं का पुनः रूपान्तर साधारण पाठक के मन में सम्भव नहीं हो पाता—यद्यपि वही नयी काव्य-संवेदना से अभिज्ञ पाठक के लिए सहज सम्भव होता

है और उसे शाम की गहरी अर्थवत्ता के प्रति पर्युत्सुक बनाता है और उसकी संवेदन-क्षमता का विस्तार करता है। 'दूसरा सप्तक' की समीक्षा करते हुए प्रभाकर माचवे ने लिखा था—"शमशेर बहादुर सिंह की कविता में सर्वाधिक आधुनिकता है। कवि जैसे शब्द की समूची व्यञ्जना-शक्ति का भरपूर उपयोग कर लेना चाहता है।........शमशेर बहादुर सिंह कविता में भी कुछ विदेशी वामपन्थी कवियों की शैली का प्रभाव और अपने मन के पूरे संवेदना-जाल को व्यक्त करने की आतुरता स्पष्ट है। उनकी रचनाओं में सामाजिक आशय इसी कारण से प्रधान हो उठता है और कई स्थलों पर वह वस्तुनिष्ठा उनके व्यक्तिगत द्वन्द्वों से जैसे अनमिल भी है।" शमशेर की आगे की कविताओं को देखते हुए भी उन्हें उपर्युक्त धारणाओं में परिवर्तन करने की जरूरत नहीं महसूस होगी। पर यही बात रघुवीर सहाय की कविताओं के लिए नहीं कही जा सकती—'दूसरा सप्तक' की कविताओं से 'सीढ़ियों पर धूप में' की कविताएँ अधिक भिन्न और स्पष्ट विकास का परिचय देती हैं—उससे भी आगे 'आत्महत्या के विरुद्ध' की उनकी कविताएँ चीजों के आर-पार एक नयी भाषा की खोज करते हुए मनुष्य की असली हालत के सीधे साक्षात् की दिशा में उनकी गहरी संलग्नता को प्रमाण देती हैं। डॉ० देवराज ने रघुवीर सहाय की कविताओं में नवीनता का सहज समावेश, प्रयोगों की स्वाभाविकता और सामंजस्य आदि विशेषताएँ लक्ष्य की थीं—साथ ही संकेत किया था कि "यदि कहीं-कहीं कमी है तो गठन की—एकसूत्रता के निर्वाह की"। पर रघुवीर सहाय की परवर्ती कविताओं के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती। शमशेर का कवि-व्यक्तित्व जहाँ स्थिर और शान्त है, वहाँ रघुवीर सहाय की काव्य-यात्रा में निरन्तर नवीनता और तीखेपन का समावेश होता गया है। 'सीढ़ियों पर धूप में' संग्रह की कविताएँ एक उदार, मुक्त संवेदना का—खुलेपन का संसार रचती हैं जिसमें हम 'दे दिये जाते हैं':

> एकाएक छन जाता है मेरा अकेलापन
> आवाजों को मूर्खों के साथ छोड़ता हुआ
> और एक गूंज रह जाती है शोर के बीच जिसे सब दूसरों से छिपाते हैं
> नंगी और बेलौस
> और उसे मैं दे दिया जाता हूँ।

इस संसार के कितने ही मार्मिक पहलू उन कविताओं में उजागर हैं—जैसे जीने की सच्ची आकांक्षा, प्रेम की सुखद आत्मीयता, दृश्य-चित्रों के सूक्ष्म स्तरों की पहचान, सुख-साधनों के बीत जानेपर भी रचनात्मक सम्भावनाओं की खोज, आदि। किन्तु 'आत्महत्या के विरुद्ध' तक आते-आते उपर्युक्त संसार इतना सीधा नहीं रह गया है। वह कहीं अधिक पेचीदा और जटिल हो गया है और उसे उपयुक्त भाषा देने से पहले रघुवीर सहाय ने सबसे पहले भाषा के प्रचलित शब्द-अर्थ-सम्बन्ध को या पूरे भाषा नामक यन्त्र

तोड़ने की आवश्यकता का अनुभव किया है। विसंगति, विडम्बना और नाटकीय एकालाप-जैसी विशेषताओं को उनकी नयी कविताएँ अर्थ देती हैं।

'दूसरा सप्तक' के कवियों में धर्मवीर भारती और नरेश मेहता की काव्योपलब्धियाँ क्रमशः 'अन्धायुग' (काव्यनाटक) और 'संशय की एक रात' में प्रत्यक्ष हुई हैं। भारती के काव्यनाटक 'अन्धायुग' में वे प्रश्न उठाये गये हैं जो आधुनिक जीवन की विसंगतियों को एक विराट् ऐतिहासिक सन्दर्भ में उद्घाटित करते हैं और इसी उद्देश्य से इसके रूपात्मक गठन में नाटकीयता के विधान का उपयोग करने की चेष्टा की गयी है। इसकी तुलना में 'संशय की एक रात' में वे जटिलताएँ नहीं हैं जो उसे 'अन्धायुग' जितना व्यापक नाटकीय परिवेश दे सकें। राम के द्विविधात्व के बावजूद इस कथा में पेंच या कटाव नहीं है।

'गीतफरोश' से 'चकित है दुःख' तक भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओं में एक जैसी संलाप-शैली का उपयोग देखा जा सकता है। यह अवश्य है कि उनकी अधिसंख्य कविताएँ हल्के आवेग तक ही सीमित रह जाती हैं।

'प्रयोगवाद' के प्रवर्त्तक अज्ञेय ने ही १९५१ ई० के आसपास 'नयी कविता' संज्ञा का प्रयोग किया है—"....मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि नयी कविता की—जिसके लिए मुझे 'प्रयोगवादी' शब्द अपूर्ण, अन्याप्त और पूर्वग्रह युक्त जान पड़ता है—मूल प्रवृत्तियाँ इसी देश की हैं।" (प्रयोगशील कविता : परिसंवाद : 'प्रतीक', जून, '५१)। सुविधा के लिए माना जा सकता है कि 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही 'नयी कविता' का आरम्भ हुआ जिसे आगे चलकर 'नयी कविता' पत्रिका (सम्पादक : जगदीश गुप्त) के साथ प्रतिष्ठा मिली और 'तीसरा सप्तक' के साथ जिसकी रूढ़ि स्थिर हुई।

'तीसरा सप्तक' (संकलित कवि : कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह, विजयदेव-नारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, प्रयागनारायण त्रिपाठी) के प्रकाशन (१९५९ ई०) के साथ नयी कविता का एक वृत्त पूरा हो जाता है—उस 'नयी कविता' का, जिसने खास किस्म की सौन्दर्याभिरुचि का विकास करने के साथ समकालीन सामाजिक संघर्ष और कवि के आत्मसंघर्ष के बीच सामंजस्य खोजने की चेष्टा की। 'तीसरा सप्तक' के कवियों में सबसे स्पष्ट विकास केदारनाथ सिंह और कुँवरनारायण की कविताओं में देखा जा सकता है। केदार की प्रसिद्ध कविता 'अनागत' उस रोमाण्टिक नवोत्थान की प्रवृत्ति को परिभाषित करने में समर्थ है जिसमें प्रतीक्षा, उत्सुकता और परिवर्तन की ललक विद्यमान थी।

फूल जैसे अँधेरे में
दूर से ही चीखता हो,

इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है
हाथ उसके हाथ में आकर
बिछल जाते
स्पर्श उसका
धमनियों को रौंद जाता है

'तीसरा सप्तक' और 'अभी बिलकुल अभी' में संकलित केदारनाथ सिंह की कविताएँ उनके वक्तव्य के इस अंश का स्मरण बार-बार कराती हैं—"कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूँ बिम्बविधान पर। बिम्बविधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषयवस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त्त और ग्राह्य बनाता है; रूप को संक्षिप्त और दीप्त।" वे ही अपनी परवर्ती कविताओं में बिम्ब-भिन्न दृष्टि को चरितार्थ करते हुए जान पड़ते हैं—

तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फर्क नहीं पड़ता !
मेरे युग का मुहावरा है
फर्क नहीं पड़ता।
और भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं
बल्कि दाँतों के बीच की जगहों में
सटी हुई है।

केदारनाथ सिंह की दृष्टि में आज की कविता 'प्रतिपक्ष' की कविता है और उनके नये 'काव्यशास्त्र' के अनुसार—

मुँह में बचे हुए चावल के स्वाद को
कुछ अदृश्य कंकड़ियों के हस्तक्षेप से
बचाने का नाम है कविता।

कुँवरनारायण की कविता में विचारशीलता और रचना-प्रक्रिया का जो गहरा सम्बन्ध है वही उन्हें आज के अधिसंख्य कवियों से अलग करता है। उनकी कल्पना जीवन और अस्तित्व की मौलिक समस्याओं से टकराती है और विचार-तरंगों को व्यवस्थित करती है। उनके अनुसार "कोई अनुभव सार्थक तभी माना जायगा जब वह किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम में प्रतिफलित हो; और यह बिना एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखकर चले सम्भव नहीं।" (वक्तव्य : 'तीसरा सप्तक') कुँवरनारायण के लिए प्रयोग "वैज्ञानिक दृष्टिकोण का स्वाभाविक उपप्रमेय है—एक ऐतिहासिक आवश्यकता है"। उनकी कविताओं में इस दृष्टिकोण की पहचान सहज ही की जा सकती है।

हम एक इशारा हैं दो भिन्न दिशाओं में
हम से होकर सदियों के प्रश्न गुजरते हैं :
हम एक व्यवस्था हैं क्षणभंगुर जीवन की
जो हर क्षण को सपनों से जीवित रखते हैं !

'चक्रव्यूह' से लेकर 'आत्मजयी' तक कुँवरनारायण की कवि-प्रतिभा आत्मसत्य के साक्षात् के लिए अपनी सृजनात्मक सम्भावनाओं की जाँच-परख करती आयी है—आत्मजयी के नचिकेता की खोज जीवन-मूल्यों की ही असली खोज है—जो पहले सत्य की ही पूर्वनिर्धारित मान्यताओं के प्रति शंका उठाती है—

सत्य जिसे हम सब इतनी आसानी से,
अपनी-अपनी तरफ मान लेते हैं; सदैव
विद्रोही-सा रहा है ।

'तीसरा सप्तक' के कवि-वक्तव्य में साही ने घोषित किया है कि उनकी कविता का आधार आस्था है—जिसके पच्चीस शील हैं। उनके १४वें शील के अनुसार "हर कलाकृति ठोस, विशिष्ट अनुभूति से उपजती है और उसका उद्देश्य अनुभूति की सामान्य कोटियों को नये सिरे से परिभाषित करना होता है ।"

विजयदेवनारायण साही की कविता ने अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व 'मछलीघर' की कविताओं में प्राप्त किया है । साही की कविता विकल्प की प्रतीक्षा की कविता है और विकल्प की प्रतीक्षा साही की कविता । साही उन कवियों में हैं जो काव्यानुभवों को आलोचनात्मक दृष्टि से जाँचते हुए उन्हें ऐतिहासिक परिदृश्य में रखकर देखते हैं और उन्हें ठोस जीवन-सन्दर्भों में बदलने या ढाल लेने की कोशिश करते हैं । नामवर सिंह ने साही की कविता 'अलविदा' और मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' की तुलना करते हुए लिखा है—"ये दोनों कविताएँ भी नाटकीय एकालाप ही हैं, किन्तु इनमें फैन्टेसी के सहारे एक ऐसी प्रभावशाली पटभूमि तैयार की गयी है जो पूर्वोक्त (असाध्यवीणा, समाधिलेख, आत्महत्या के विरुद्ध, मुक्तिप्रसंग आदि) कविताओं से इन्हें अलग कर देती है । एकालाप के बावजूद इन दोनों कविताओं में वाचक के अतिरिक्त एक और व्यक्ति है जो छायारूप उस एकालाप का साझीदार बना रहता है । 'अलविदा' में वह अपर व्यक्ति स्पष्टत: अपने से भिन्न 'कोई दूसरा' है जिसे यदि 'अभिन्न' कहा जा सकता है तो लाक्षणिक भाषा में । 'अँधेरे में' का अपर व्यक्तिवाचक का प्रतिरूप या 'डबल' है जो उस नाटक में छाया के समान केवल उपस्थित ही नहीं रहता, बल्कि सक्रिय रूप से हिस्सा भी लेता है ।" ('कविता के नये प्रतिमान' : पृष्ठ १५६) ।

'तीसरा सप्तक' के कवि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के पास न कुँवरनारायण की कवि-कर्म के प्रति प्रतिबद्ध विचारशीलता है न केदारनाथ सिंह जैसी प्रगीतात्मकता और

परिस्थितियों से गहरा सम्बन्ध स्थापित करने वाली तीखी संवेदनशीलता है—साही की इतिहास-दृष्टि भी उनमें नहीं है। सब मिलाकर सर्वेश्वर की कविता में तथाकथित काव्यात्मक आवेग है जो कविकर्म के सरलीकरण का ही दूसरा नाम है। कीर्ति चौधरी की सहज भावुकता भी इस आवेग से अधिक काव्यात्मक मूल्य रखती है। मदन वात्स्यायन भी अपने व्यक्तित्व की मौलिकता और अपने तीखे विचारों के लिए नयी कविता के इतिहास में अलग स्थान रखते हैं। यथार्थ के सामाजिक विश्लेषण के प्रति सचेत उनके कविस्वभाव में लोकभाषा की जीवन्तता के प्रति गहरा आकर्षण है।

'तीसरा सप्तक' से बाहर के कवियों में ठाकुरप्रसाद सिंह की कविताएँ यदि आदिम जीवन की धड़कन एवं लय को पकड़ना चाहती हैं तो श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ आज के जीवन की चरम, निरर्थकता को व्यक्त करती हैं। 'मायादर्पण' की कविताएँ आज के संसार की उत्तेजना और आज की भाषा की चरमतीव्र नाटकीयता के अधिक नज़दीक हैं—जब कि वे मूल्य-दृष्टि के विरोध से ही शुरू होती हैं और विरोध में ही समाप्त। श्रीकान्त के लिए प्रेम 'अकेलेपन' का 'अनुभव' है और 'दूसरे का डर ?'

> कोई मेरे साथ
> कपड़े
>   बदल रहा है
> कोई मेरे पैरों
>   चल रहा है

अवश्य ही श्रीकान्तवर्मा की कविताएँ हमारे समय की वास्तविकता की क्रूर अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीकान्त शब्द-शिल्प के प्रति कोई हमदर्दी नहीं दिखाते। रेटारिक का इस्तेमाल करने के बावजूद अभिव्यक्ति की दिशा में जितना खतरा वे उठाते हैं, उतना कोई दूसरा नहीं। यों ही नहीं है कि उनकी कविता 'माया-दर्पण' का अन्त पूरी कविता के 'रेटारिक' को एक सार्थक बिन्दु पर तोड़ता है—या बदल देता है—

> शरीरान्त के पहले मैं सब कुछ निचोड़कर
> उसको दे जाऊँगा जो मुझे भी मिलेगा
> मैं यह
> अच्छी तरह जानता हूँ
> किसी के न होने से
> कुछ भी नहीं होता।
> मेरे न होने से कुछ भी नहीं हिलेगा।
> मेरे पास कुर्सी भी नहीं जो खाली हो.......

सपाटबयानी श्रीकान्त में भी है पर रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह की तरह

उन्होंने भी उसे "बुनियादी बिम्बधर्मिता के प्रतिकूल न रखकर उसे उसके साथ संयोजित किया है।" (अशोक वाजपेयी)। विरोधी, असम्बद्ध और एक-दूसरे के लिए अप्रासंगिक जान पड़ने वाली वस्तुओं के सह-संयोजन से श्रीकान्त की कविता ने न केवल अर्थ के चमत्कार की सृष्टि की है, बल्कि मानव-स्थिति की विडम्बनाओं को गहरे काव्यात्मक स्तर पर उजागर भी किया है। यदि भारत के स्वाधीन राष्ट्रीय जीवन की भूमिका में नेहरू का महत्त्व स्वीकार करते हुए ५०-६० के बीच के समय को नेहरू-युग कहा जाय तो '६० के आसपास का युगान्त राजनीतिक साहित्यिक इतिहास का भी युगान्त जान पड़ता है; क्योंकि जितनी तीव्रता से नेहरू का प्रभामण्डल निस्तेज होता गया उतनी ही तीव्रता से नयी कविता की सौन्दर्याभिरुचि अपनी उपयोगिता खोती गयी—इसके पीछे एक समूचे युग का मोहभंग है जिसका विश्लेषण '६० के बाद की कविता को समझने के लिए उपयोगी हो सकता है।

साठोत्तर हिन्दी कविता

सन् साठ का वर्ष आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष महत्त्व रखता है। 'साठ के बाद की कविता', 'साठ के बाद की कहानी', 'साठ के बाद का उपन्यास' जैसे शीर्षक समकालीन पत्रिकाओं में बार-बार दिखायी पड़ते हैं और साठोत्तर साहित्य अनेक चर्चाओं के केन्द्र में रहा है। केवल कविता का ही इतिहास देखा जाय तो भी साठोत्तर कविता का इतिहास विविध आन्दोलनों का इतिहास कहा जा सकता है—जिसमें अलग-अलग गुटों में, अलग-अलग मंचों से, कवियों ने अलग-अलग फतवे दिये हैं। अकविता, न-कविता, अस्वीकृत कविता, युयुत्सावादी कविता, प्रतिबद्ध कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, श्मशानी कविता आदि तथाकथित काव्यांदोलनों को अलग-अलग करके परिभाषित कर पाना जितना कठिन है उतना ही कठिन है उनमें जेनुइन कविता को ढूँढ़ पाना जो निश्चय ही उनमें कम है। एक ही स्तर का असन्तोष, क्षोभ, उत्तेजना और विद्रोह उनमें है और ये सभी काव्यान्दोलन समकालीन मानसिक स्थिति को रूपायित करने का दावा करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में कोई मंच बनाकर एक आन्दोलन खड़ा कर देना कोई बड़ी बात नहीं है, पर वास्तव में कोई भी आन्दोलन किसी वैचारिक जमीन के अभाव में दीर्घ-जीवी नहीं हो पाता। साहित्य के क्षेत्र में यह दम्भ कि हम सही हैं और बाकी सब गलत, बदलते हुए ऐतिहासिक सन्दर्भों एवं विकासशील मानवीय सम्भावनाओं को इनकार करना है। इतिहास की उभरती रेखाएँ और उनके बीच जीता हुआ मनुष्य साहित्य के सभी नारों और मुखौटों को निरर्थक साबित कर देता है। साहित्य के धरातल पर कोई लक्ष्मण-रेखा खींचना या भविष्यवाणी करना खतरे से खाली नहीं होता। अत: पुरानी पीढ़ी का अपनी मान्यताओं को नयी पीढ़ी पर लादने की या नयी पीढ़ी का पुरानी पीढ़ी की उपलब्धियों को इनकार करने की हठधर्मी यहाँ नहीं चल सकती। सन् साठ के आस-पास हिन्दी कवियों की एक नयी पीढ़ी जरूर सामने आयी है जिसने हिन्दी कविता को कुछ नये आयाम दिये हैं पर जैसा कि हर समय की कविता में होता है, साठोत्तर कविता में भी भाषा का समर्थ उपयोग और दुरुपयोग दोनों मिलता है।

साठ के बाद की हिन्दी कविता नवीन काव्याभिरुचि, नवीन सौन्दर्यबोध और नये संवेदन की कविता है। रोमाण्टिक भावुकता के स्थान पर यथार्थपरक बौद्धिकता; संयम, सुरुचि, सन्तुलन और भद्रता के स्थान पर सच्चाई, साहस और खरापन; मसृण और

कोमल के स्थान पर परुष और अनगढ़ की स्वीकृति; समझौता और यथा स्थितिवाद के स्थान पर संघर्ष और विद्रोह का आग्रह; परम्परागत मूल्यवादी दृष्टि के स्थान पर अनास्था और मूल्यहीनता का स्वर, अलंकृत भाषा के स्थान पर बेलौस सपाटबयानी तथा आक्रोश, क्षोभ, उत्तेजना, तनाव और छटपटाहट आदि—संक्षेप में, साठोत्तर कविता की प्रमुख विशेषताएँ हैं। पर यथार्थ के नाम पर उच्छृंखल अभिव्यक्ति सचाई और साहस के नाम पर आक्रामक नग्नता, विद्रोह के नाम पर बड़बोलापन और यौन विकृतियों का प्रदर्शन, सपाटबयानी के नाम पर सतही बयानबाजी और तनाव के नाम पर अति-नाटकीय मुद्रा भी साठोत्तर कविता में कम नहीं है—बल्कि अधिक ही है।

हिन्दी-काव्य-विकास के विश्लेषण से लगता है कि सन् १९३६ के बाद हिन्दी कविता की जो धारा सप्तकों से होकर प्रवाहित हुई वह आगे चलकर स्पष्टतः दो धाराओं में विभाजित हो गयी—एक धारा तो वह रही जो छायावादी काव्य-संस्कारों से, अपने को पूर्णतः मुक्त न कर सकी और कालान्तर में जो छायावाद की ही एक कड़ी बन कर रह गयी और दूसरी धारा वह रही जो छायावादी काव्य-संस्कारों के अवरोधों को तोड़ते हुए एक भिन्न दिशा में बढ़ती रही और आगे चल कर जो हिन्दी कविता को एक नवीन सौन्दर्याभिरुचि दे सकी। अज्ञेय और मुक्तिबोध इन दोनों धाराओं के अलग-अलग प्रतिनिधि उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अपने को नयी कविता से बिलकुल अलग समझने वाले युवालेखक जब निराला और मुक्तिबोध के परवर्ती काव्य पर गौर करेंगे तो उन्हें मेरे कथन पर आपत्ति नहीं होगी। आज के कटु परिवेश में दबे हुए कवियों ने लगभग समान असन्तोष का अनुभव किया है और ऐसे कवियों में सप्तक-परम्परा के कवि भी हैं तथा वे युवा कवि भी जो सन् साठ के बाद मुख्य रूप से साहित्य के क्षेत्र में आये हैं। सम्भवतः इसी को ध्यान में रखते हुए परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा होगा, "नयी कविता के एक दौर का समाप्त हो जाना नयी कविता का समाप्त हो जाना नहीं है।" (धर्मयुग)। किन्तु यह स्वीकार करते हुए कोई सन्देह नहीं है कि नयी कविता की विद्रोही चेतना सन् आठ तक आते-आते समाप्त हो चली थी और उसकी मुख्यधारा में एक प्रकार की स्थिरता आ गयी थी। एक ज़माने में प्रयोग का आग्रह लेकर आगे बढ़ने वाली हिन्दी की नयी कविता भी अन्दर-ही-अन्दर छायावादी संस्कारों से ग्रस्त होकर रह गयी और उसने जाने-अनजाने अपना एक संकीर्ण काव्य-संसार बना लिया जो धीरे-धीरे वास्तविक संसार से दूर होने लगा। तीसरे सप्तक के ही एक कवि केदारनाथ सिंह के शब्दों में, "एक ऐसे समय में जब कि साहित्य को रोमाण्टिक भावुकता से छुटकारा दिलाने के लिए बिलकुल दूसरे प्रकार के तारों की आवश्यकता थी; तारसप्तक के कुछ वक्तव्यों और विशेषतः सम्पादक के वक्तव्य ने उन प्रश्नों को रेखांकित करने का प्रयास किया जो जाने-अनजाने रोमाण्टिक संशयों को ही प्रतिध्वनित करते थे। परिणामतः

रोमाण्टिक और आधुनिक के बीच जो स्पष्ट विभाजन अब तक हो जाना चाहिए था वह अगली पीढ़ी तक के लिए स्थगित कर दिया गया ।" (आलोचना, जुलाई-सितम्बर, १९६७) । प्रयोगवादी नयी कविता की सौन्दर्याभिरुचि छायावादी सौन्दर्याभिरुचि के ही इर्द-गिर्द घूमकर रह गयी जिसकी सबसे अधिक पीड़ा इस पंक्ति से बाहर होने के कारण मुक्तिबोध को झेलनी पड़ी । नामवर सिंह के शब्दों में, "मुक्तिबोध को छोड़कर नयी कविता का स्वीकृत होना इस बात का पक्का प्रमाण है कि नयी कविता ने कहीं न कहीं पूर्ववर्ती रोमाण्टिकता के साथ चुपचाप समझौता कर लिया था।" (कविता के नये प्रतिमान, पृ० ३६) । हिन्दी-काव्य-विकास का इस ढंग से विश्लेषण करते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ नयी कविता का एक दौर समाप्त हो जाता है ।

साठ के बाद के कवियों ने छायावादी रोमाण्टिक संस्कारों से अपने को मुक्त करने का प्रयास किया है, प्रयोगवादी नयी कविता की रूढ़ियों को तोड़ा है । इन कवियों की सौन्दर्याभिरुचि, इनकी कथन-भंगिमा पुरानी रोमाण्टिक और प्रकृतिप्रेमी कविताओं से भिन्न है । अपनी कविता का पूर्ववर्तियों से अन्तर बताते हुए रघुवीर सहाय लिखते हैं :

कितना अच्छा था छायावादी
एक दुख लेकर वह एक गान देता था
कितना कुशल था प्रगतिवादी
हर दुख का कारण वह पहचान लेता था
कितना महान था गीतकार
जो दुख के मारे अपनी जान देता था
कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में
जहाँ सदा मरता है एक और मतदाता

—रघुवीर सहाय

हिन्दी काव्य-विकास के अध्ययन से पता चलता है कि हिन्दी-कविता का विकास यथार्थ की ओर हुआ है । सैकड़ों वर्षों तक भक्ति, श्रृंगार और नीति की त्रिवेणी में स्नान करने वाली हिन्दी कविता अब जीवन के ठोस धरातल पर आ खड़ी हुई है । युवा कवियों में अपेक्षाकृत रूमानी और ऐन्द्रिक संवेदना के कवि कमलेश भी रोजमर्रा की चीजों तक पहुँचते हैं—

बाजार में आज छः छटाँक की ही दाल मिली, प्याज भी
चाँदी की तरह तेज, डेढ़ रुपये कचहरी में
लग गये कहाँ से लाते तरबूज़, सुना ऊँच गाँव में
कोई गमी हो गयी है —कमलेश

आज का कवि किसी दार्शनिक सिद्धान्त या आदर्श के घेरे में अपने को सीमित नहीं करना चाहता। उसको इसकी भी चिन्ता नहीं कि उसकी कविता परम्परागत नैतिक दृष्टि से अच्छी समझी जायेगी या बुरी। बल्कि वह तो खोखले आदर्शों के प्रति पूर्णतः अश्रद्धा व्यक्त करता है—

श्रद्धा, सम्मान और प्रेरणा जैसे शब्दों को
पान की पीक के साथ थूकता हूँ मैं
मन्त्रिमण्डलों में बलात्कार करने वाले लोगों पर
मेरे थूक का रंग लाल है
काश, मेरे खून का रंग भी लाल होता!

—मणिमधुकर

आज की कविता समाज की मृत मान्यताओं, टूटती हुई परम्पराओं और सामाजिक-राजनीतिक भ्रष्टाचार से क्षुब्ध युवा-मानस की अभिव्यक्ति है। उसे आज की बिखरी हुई दुहरी जिन्दगी और बदलते मानवीय सम्बन्धों की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। यह आकस्मिक नहीं है कि आज के कुछ वर्षों पूर्व जो कवि अपने प्रेमगीतों के लिए प्रसिद्ध थे वे अब राजनीतिक कविताएँ लिख रहे हैं। सत्तकों के उन कवियों का भी मोहभंग हुआ है जो कविता को छायावादी ढर्रे पर खींचे चले जा रहे थे और इस प्रकार जीवन की जटिल स्थितियों से पलायन कर रहे थे। इस मोहभंग को आज के सच्चे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। आजादी के दस-पन्द्रह वर्षों बाद भी जब एक आजाद देश आत्मनिर्भर न बन सका—उल्टे वह और भी समस्यापूर्ण बन गया—आजादी की कल्पना जब साकार नहीं हुई और उसकी वास्तविक उपलब्धियाँ दूरतर होने लगीं तो स्वाभाविक रूप से वह एक प्रश्न-चिह्न बन गयीं—

सूचना विभाग के हर पोस्टर पर
खुशहाली है। चारो ओर
कंगाली के पास आटा नहीं
गाली है
और जिस पर कोई नहीं
खाना चाहता
आजादी एक जूठी थाली है।—लीलाधर जगूड़ी

सन् साठ के लगभग बुद्धिजीवियों की जो नयी-पुरानी पीढ़ी सामने आयी उसने अपने आगे पाया एक भयानक अन्धकार। एक ओर सरकार जो अपने दायित्व से बेखबर और निश्चिन्त सो रही है और धूर्त नेतागण अपनी कुर्सी के लिए जोड़-तोड़ की राजनीति में व्यस्त हैं। दूसरी ओर घुले-धुलाये सरकारी अफसर और पढ़े-लिखे बाबू लोग निरन्तर जनता से दूर होते जा रहे हैं। तीसरी ओर शोषक-वर्ग ठूँस-ठूँस कर अपने गहरे पेट में

रुपया और सोना भरता जा रहा है। चौथी ओर जर्जर, मृत और सड़े-गले मूल्यों को लेकर समाज को अलग-अलग वैतरणी का रूप देने वाले ठेकेदार लोग हैं। और इन सबसे अलग एक ओर वह मरियल किसान है, जो इन सबके बीच धीरे-धीरे मर रहा है, लेकिन क्रान्ति के लिए तैयार नहीं—

जो हाथों से काम करते हैं
वे गुलाम हैं अभी भी
लगान भरते हैं, रिश्वत देते हैं
और पई भर जमीन के लिए खून करते हैं,
मुकदमें लड़ते हैं, जेल की रोटियाँ बेलते हैं
........नागरिकता सीखते हैं।
और उनकी पत्नियाँ अँधेरे की सीलन में
रोते हुए बच्चों को भरपेट पीटती हैं
फिर रो-रो कर प्यार जताती हैं। कचरे में सनी हुई
पूजा करती हैं और जीवित रहती हैं।—दूधनाथ सिंह

बुद्धिजीवियों की इस पीढ़ी ने अपने चारों ओर जब यह सब कुछ देखा तो उसका मोहभंग स्वाभाविक था—

आदमी को तोड़ती नहीं है लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ केवल पेट के बल
उसे झुका देती हैं धीरे-धीरे अपाहिज
धीरे-धीरे नपुंसक बना लेने के लिए उसे शिष्ट राजभक्त देशप्रेमी
नागरिक बना लेती हैं
आदमी को इस लोकतन्त्री संसार से अलग हो जाना चाहिए।
—राजकमल चौधरी

सन् बासठ के चीनी हमले में यह स्वप्न और भी टूट गया जब पंचशील और सह-अस्तित्व के मूल्य नेफा और लद्दाख में नंगे हो गये। चौथे आम-चुनाव में जब कांग्रेस की महन्थी चूर हुई और गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं तो परिवर्तन चाहने वाले लोगों को सन्तोष हुआ। किन्तु इन गैर-कांग्रेसी लोगों ने इस कदर गद्दी की लड़ाई शुरू की कि छः महीने में ही उन्होंने वह सब कुछ कर दिखाया जो कांग्रेसियों ने २० वर्षों में भी नहीं किया था। नयी पीढ़ी के बुद्धिजीवियों का लोकतन्त्र में विश्वास डिगना स्वाभाविक था—

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा षड्यन्त्र की)
कुछ लोग सारा समय
कसमें खायेंगे लोकतन्त्र की
मुझसे नहीं होगा

जो मुझसे नहीं हुआ
वह मेरा संसार नहीं है—श्रीकान्त वर्मा
लोकतन्त्र को जूते की तरह
लाठी में लटकाए
भागे जा रहे हैं सभी
सीना फुलाये ।—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

साठ के वाद की रचनाओं पर गौर करने से पता चलता है कि इस दशक का कवि-मांनस अस्तित्व के लिए एक भयानक संघर्ष कर रहा है। बहुत पहले केदारनाथ सिंह का 'अनागत' जिस तरह उनके इर्द-गिर्द मँडराया करता था उसी तरह एक अनिश्चित भविष्य का संकट आज के कवि के चारों ओर भी मौके-बेमौके दीख जाता है। तभी तो एक बड़ी चट्टान को बार-बार गिरि-शिखर पर ठेलकर पहुँचाते रहने वाले यूनानी कथानायक सिसिफस को आज का कवि अपनी यन्त्रणा का प्रतीक मानता है। यह मात्र संयोग की बात नहीं कि मृत्यु और आत्महत्या जैसी थीमों के इर्द-गिर्द घूमती हुई बहुत सारी कविताएँ इधर लिखी गयी हैं। मुक्तिबोध की 'अँधेरे में', राजकमल चौधरी की 'मुक्ति-प्रसंग', रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरुद्ध' तथा श्रीकान्त वर्मा की 'समाधि-लेख' जैसी कविताएँ उदाहरण के लिए पढ़ी जा सकती हैं। कुँवरनारायण की कृति 'आत्मजयी' मृत्यु के प्रकाश में ही जीवन की सार्थकता का उद्घाटन करती है। दहशतभरे समकालीन परिवेश में आज का कवि अपने को नितान्त अकेला पाता है—

असल में मेरे कन्धे दुख रहे हैं
और असल में मैं एक खम्भे से दूसरे खम्भे तक
अपने हिस्से का आसमान
ढोते-ढोते थक गया हूँ।—केदारनाथ सिंह
मैंने कभी नहीं सोचा
मेरे वातायन को चूमता
आकाश सभी देशों का एक दिन विमुख भी हो सकता है
एक दिन खण्ड-खण्ड होकर
सूर्य भी मिट्टी के घर में सो सकता है
और अब
द्वारहीन भित्तियाँ लँगड़ाते यन्त्र-चक्र
अधबने सेतु प्रतीक्षारत बच्चे निर्वाक हैं
मुझसे इस ठहरे 'नास्तित्व' की स्याह छटपटाहट
सही नहीं जाती।
—कैलाश वाजपेयी

रुपया और सोना भरता जा रहा है। चौथी ओर जर्जर, मृत और सड़े-गले मूल्यों को लेकर समाज को अलग-अलग वैतरणी का रूप देने वाले ठेकेदार लोग हैं। और इन सबसे अलग एक ओर वह मरियल किसान है, जो इन सबके बीच धीरे-धीरे मर रहा है, लेकिन क्रान्ति के लिए तैयार नहीं—

जो हाथों से काम करते हैं
वे गुलाम हैं अभी भी
लगान भरते हैं, रिश्वत देते हैं
और पई भर जमीन के लिए खून करते हैं,
मुकदमें लड़ते हैं, जेल की रोटियाँ बेलते हैं
········नागरिकता सीखते हैं।
और उनकी पत्नियाँ अँधेरे की सीलन में
रोते हुए बच्चों को भरपेट पीटती हैं
फिर रो-रो कर प्यार जताती हैं। कचरे में सनी हुई
पूजा करती हैं और जीवित रहती हैं।—दूधनाथ सिंह

बुद्धिजीवियों की इस पीढ़ी ने अपने चारों ओर जब यह सब कुछ देखा तो उसका मोहभंग स्वाभाविक था—

आदमी को तोड़ती नहीं है लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ केवल पेट के बल
उसे झुका देती हैं धीरे-धीरे अपाहिज
धीरे-धीरे नपुंसक बना लेने के लिए उसे शिष्ट राजभक्त देशप्रेमी
नागरिक बना लेती हैं
आदमी को इस लोकतन्त्री संसार से अलग हो जाना चाहिए।
—राजकमल चौधरी

सन् बासठ के चीनी हमले में यह स्वप्न और भी टूट गया जब पंचशील और सह-अस्तित्व के मूल्य नेफा और लद्दाख में नंगे हो गये। चौथे आम-चुनाव में जब कांग्रेस की महन्थी चूर हुई और गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं तो परिवर्तन चाहने वाले लोगों को सन्तोष हुआ। किन्तु इन गैर-कांग्रेसी लोगों ने इस कदर गद्दी की लड़ाई शुरू की कि छः महीने में ही उन्होंने वह सब कुछ कर दिखाया जो कांग्रेसियों ने २० वर्षों में भी नहीं किया था। नयी पीढ़ी के बुद्धिजीवियों का लोकतन्त्र में विश्वास डिगना स्वाभाविक था—

कुछ लोग मूर्तियाँ बनाकर
फिर बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा षड्यन्त्र की)
कुछ लोग सारा समय
कसमें खायेंगे लोकतन्त्र की
मुझसे नहीं होगा

जो मुझसे नहीं हुआ
वह मेरा संसार नहीं है—श्रीकान्त वर्मा
लोकतन्त्र को जूते की तरह
लाठी में लटकाए
भागे जा रहे हैं सभी
सीना फुलाये ।—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

साठ के बाद की रचनाओं पर गौर करने से पता चलता है कि इस दशक का कवि-मानस अस्तित्व के लिए एक भयानक संघर्ष कर रहा है। बहुत पहले केदारनाथ सिंह का 'अनागत' जिस तरह उनके इर्द-गिर्द मँडराया करता था उसी तरह एक अनिश्चित भविष्य का संकट आज के कवि के चारों ओर भी मौके-बेमौके दीख जाता है। तभी तो एक बड़ी चट्टान को बार-बार गिरि-शिखर पर ठेलकर पहुँचाते रहने वाले यूनानी कथानायक सिसिफस को आज का कवि अपनी यन्त्रणा का प्रतीक मानता है। यह मात्र संयोग की बात नहीं कि मृत्यु और आत्महत्या जैसी थीमों के इर्द-गिर्द घूमती हुई बहुत सारी कविताएँ इधर लिखी गयी हैं। मुक्तिबोध की 'अँधेरे में', राजकमल चौधरी की 'मुक्ति-प्रसंग', रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरुद्ध' तथा श्रीकान्त वर्मा की 'समाधि-लेख' जैसी कविताएँ उदाहरण के लिए पढ़ी जा सकती हैं। कुँवरनारायण की कृति 'आत्मजयी' मृत्यु के प्रकाश में ही जीवन की सार्थकता का उद्घाटन करती है। दहशतभरे समकालीन परिवेश में आज का कवि अपने को नितान्त अकेला पाता है—

असल में मेरे कन्धे दुख रहे हैं
और असल में मैं एक खम्भे से दूसरे खम्भे तक
अपने हिस्से का आसमान
ढोते-ढोते थक गया हूँ।—केदारनाथ सिंह
मैंने कभी नहीं सोचा
मेरे वातायन को चूमता
आकाश सभी देशों का एक दिन विमुख भी हो सकता है
एक दिन खण्ड-खण्ड होकर
सूर्य भी मिट्टी के घर में सो सकता है
और अब
द्वारहीन भित्तियाँ लँगड़ाते यन्त्र-चक्र
अधबने सेतु प्रतीक्षारत बच्चे निर्वाक हैं
मुझसे इस ठहरे 'नास्तित्व' की स्याह छटपटाहट
सही नहीं जाती।
—कैलाश वाजपेयी

मुक्तिबोध की कविताओं में यह आत्मसंघर्ष बहुत भयानक है :—

पिस गया वह भीतरी
औ' बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रैजेडी है नीच । —मुक्तिबोध

यह भीतरी और बाहरी संघर्ष मुक्तिबोध के काव्य की सही जमीन है। वे गहन मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों और तीखे सामाजिक अनुभवों के कवि हैं। मुक्तिबोध के काव्य में जिस शब्द का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है, वह शब्द है 'अँधेरा'। यह 'अँधेरा' भीतर और बाहर का अँधेरा है जिसमें कवि मुक्तिबोध ने आत्मरूप और सत्य की खोज की है। यह आज के कवि मात्र की नियति है कि वह बहुत सारी व्यर्थताओं और दबावों के बीच ही सार्थकता की खोज करने को विवश है :—

बावजूद इस सबके अँधेरे में
चीजों को मैंने नये सिरे से
टटोला है
किसी ने मेरे लिए कोई सुरक्षित शब्द-भंडार
नहीं खोला है।—देवेन्द्रकुमार

आज की कविता संघर्ष को स्वीकारती है और यह स्वर उसमें प्रमुख है। संघर्षशील चेतना निश्चय ही कविता को शक्ति देती है—अनास्था, घुटन, संत्रास, ऊब, उदासी और टूटते हुए जीवन के बीच प्रतिरोधी शक्तियों से जूझने की, यथास्थिति को तोड़ने की—शक्ति देती है पर इसके लिए भाषा का सजग उपयोग जरूरी है। यह स्वीकार करना होगा कि सातवें दशक में बहुत थोड़े-से कवियों ने जीवन-संघर्ष को कविता का संघर्ष बनाया है। यह संघर्ष उनको कविता में प्रतिबद्धता और राजनीतिक तेवर के रूप में दिखायी देता है। 'प्रतिबद्धता' को लेकर पिछले दशक में लम्बी-चौड़ी बहसें हुई हैं पर वास्तव में यह प्रतिबद्धता और कुछ नहीं, कवि की सचेत दृष्टि द्वारा समय और परिवेश की चुनौतियों को स्वीकार करने का ही दूसरा नाम है।

इस प्रसंग में 'कविता और राजनीति' के सम्बन्धों की चर्चा भी अप्रासंगिक न होगी, क्योंकि पिछले दशक में इस विषय पर काफी लम्बी-चौड़ी बहसें हुई हैं। कुछ लोग कविता और राजनीति के सम्बन्धों की चर्चा सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। शायद इसका अर्थ वे किसी दल-विशेष की पक्षधरता और प्रचारात्मक साहित्य से लगाते हैं। निश्चय ही हिन्दी के प्रगतिवादी आन्दोलन में कविता को इस प्रकार का खतरा सहन करना पड़ चुका है। कवि जब किसी वाद-विशेष से बँधकर उसका प्रचार करने लगता है तो वह राजनीति के लिए कविता का उपयोग करने लगता है और तब वह कम से कम कवि नहीं रह जाता। कवि वह तभी तक है जब तक कविता के लिए राजनीति का उपयोग करता है अर्थात् अपनी संवेदना का परिष्कार करते हुए—भाषा की

सीमाओं में ही—काव्य-मूल्यों के भीतर ही अपने को अनुशासित रखता है। रघुवीर सहाय लिखते हैं : "सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ—किसी में ढालसहित, किसी में निष्कवच होकर—मगर अपने को अन्त में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूँ—अपने भाषा के, शिल्प के और उस दो तरफा जिम्मेदारी के मोर्चे पर—जिसे साहित्य कहते हैं।" (आत्महत्या के विरुद्ध, वक्तव्य)। कहना होगा कि 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में राजनीति का सीधा साक्षात्कार हुआ है और उनमें सम्पूर्ण शासनतन्त्र नंगा हो गया है। भारतीय लोकतन्त्र का सब कुछ है वहाँ—समाजवादी ढोंग, भाई-भतीजावाद, सुविधा की राजनीति, संसदीय प्रणाली का मखौल और हें-हें करती हुई भीड़। यह एक नयी काव्य-संवेदना का विस्तार है। इससे उनकी कविता अधिक समर्थ होती है। दरअसल कविता में राजनीति के आ जाने से ही उसका ह्रास नहीं होता। बल्कि आज के युग में राजनीति से जूझना कवि-कर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। राजनीति आज की मानव-नियति को नियन्त्रित करने वाली शक्तियों में प्रमुख है, अतः उसे इनकार करने का अर्थ है सचाई को इनकार करना। भारत जैसे अल्प विकसित प्रजातन्त्र में रहने वाले कवि के लिए तो यह और भी जरूरी है। आज की कविता अगर जुलूस, नारा, लाठीचार्ज, कर्फ्यू, चुनाव, मतदान, भीड़ और संसद की बात करती है तो इसीलिए कि वह मनुष्य को उसके सही परिवेश में रखना चाहती है, उसे किसी अलग आनन्द-लोक की ओर नहीं ले जाना चाहती। हाँ, इस प्रसंग में यह स्वीकार करना ईमानदारी होगी कि सातवें दशक की ढेर सारी कविताओं में उपर्युक्त शब्दों को चालू मुहावरों की तरह इस्तेमाल करके राजनीति को एक फैशन का रूप दिया गया है जिससे कविता समर्थ होने की जगह भ्रष्ट भी कम नहीं हुई है।

आज के युग में केवल परम्परागत सौन्दर्यवादी रुझान ही पर्याप्त नहीं है। यह सही है कि हमारे यहाँ कविता के लिए कोमल भाषा एक तरह से आवश्यक मान ली गयी तथा सौन्दर्य के मानों को एक हद तक जीवन के कोमल पक्ष तक ही सीमित कर दिया गया जबकि जीवन में इसका दूसरा पक्ष भी होता है और यकीनन उसे सौन्दर्य की सीमा से पृथक् नहीं किया जा सकता। साहित्य में कबीर-जैसे कवि की ऊबड़-खाबड़ भाषा की उपेक्षा की गयी जबकि उनकी भाषा अनुभव की भाषा थी जिसे हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लक्ष्य किया। वास्तव में अभिजात संस्कारी भाषातन्त्र को जिस तरह कबीर आदि सन्तों ने तोड़ा था उसी तरह आधुनिक काल में निराला ने उस पर प्रहार किया और आज का कवि भी शासन और व्यवस्था-तन्त्र के साथ ही सम्पूर्ण भाषातन्त्र को भी तोड़ना चाहता है। वह भाषा अनुभव के निकट होती है। सपाट, खुरदरी और कड़ी हो सकती है। आज के युवा कवि को अभिव्यक्तियाँ बेलौस और निर्मम हैं। उसके अन्दर कोई झिझक या संकोच नहीं :—

न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
मरम्मत के लिए खड़ा है—धूमिल

इन कविताओं में बिम्बों का मोह टूट चुका है, क्योंकि आज का कवि अपनी सचाई को सीधे-सीधे व्यक्त करना चाहता है। वह सुन्दर बिम्बों और जटिल प्रतीकों की कीमत पर अपनी अनुभव की तात्कालिकता से पलायन नहीं करना चाहता, क्योंकि जो बिम्ब कुशल कवि के हाथों 'विषय को मूर्त और ग्राह्य बनाते हैं' वही अकुशल कवि के हाथों विषय को अमूर्त और अग्राह्य भी बनाते हैं। बदली हुई कविता की माँग ने आज के कवि को सपाट कथन के लिए मजबूर किया—नंगी और जीवन्त भाषा-प्रयोग के लिए। साठोत्तर कविताओं में सपाटबयानी का जोर है। बिम्बों और प्रतीकों के साथ ही ये कविताएँ तुकों के मोह को भी तोड़ती हैं। समर्थ कविता के लिए यह सब अनिवार्य भी नहीं होता। कवि के पास यदि कौशल है तो वह वक्रकथन और नाटकीयता आदि के द्वारा कविता को निरा गद्य होने से बचा सकता है जैसा निराला ने किया है या जैसा कि जर्मन कवि गुन्थरग्रास और इंजेन्सबर्गर या चिली के कवि निकानोर पारा ने रोज के इस्तेमाल में आने वाली चीजों के प्रयोग द्वारा किया है या जैसा कि मुक्तिबोध ने नाटकीयता का सहारा लेकर या विजयदेवनारायण साही और रघुवीर सहाय ने संलाप-शैली और व्यंग्य के सहारे किया है :—

अच्छा किया तुमने कि दरवाजे खोल दिये
और अपने घर की सजावट
पेशेवर ठीकेदारों को सौंप दी
अब तुम्हारे घर में
ऐसी कोई तसवीर न होगी
जिसके लिए तुम्हें लोगों के सामने
जवाबदेह होने की जरूरत पड़े। —विजयदेवनारायण साही

परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सपाटबयानी और जीवन्त भाषा की आड़ में साठोत्तर कवियों ने यथार्थ का बड़ा सतही बयान किया है और ऐसा करके एक हद तक भाषा का और अपनी कविता का ही अवमूल्यन भी किया है। अनुभूतियों के अति सरलीकरण द्वारा इन कवियों ने अपनी कविताओं का आकार तो लम्बा कर दिया है पर कोई नाटकीय काव्यात्मकता वे पैदा नहीं कर सके हैं। इस सन्दर्भ में धूमिल की 'पटकथा', मणिमधुकर के 'खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व' और सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली' जैसी लम्बी कविताओं में भी आत्मस्फीति, अतिव्याप्त कथन और शब्दों की फिजूलखर्ची

देखी जा सकती है। वैसे छोटी कविताओं में भी बहुत कम कवि ही भाषा का सार्थक उपयोग कर सके हैं। ऐसे कवियों में मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, साही, कुँवर-नारायण, केदारनाथ सिंह, सर्वेश्वर जैसे सप्तक-परम्परा के कवियों के अतिरिक्त श्रीकान्त वर्मा, राजकमल, कमलेश, धूमिल, प्रयाग शुक्ल, देवेन्द्रकुमार, श्रीराम वर्मा, मलयज आदि कवियों का नाम उल्लेखनीय होगा। कमलेश की कविता बिम्बधर्मी कविता है जिसमें ऐन्द्रिकता विशेष गुण है। यह उनके काव्य-संसार को एक संकीर्ण सौन्दर्यमूलक संसार में सुरक्षित करती है फिर भी उल्लेख्य है क्योंकि युवा कविता में दुर्लभ है। इसके विपरीत धूमिल का काव्य-संसार समकालीन वास्तविक संसार है जिसमें जिन्दगी का सौन्दर्यमूलक नहीं वरन् ठेठ रूप दिखायी पड़ जाता है।

साठोत्तर कविता में समकालीन चेतना और यथार्थ की अभिव्यक्ति का प्रयास तो है ही पर जैसा कि कहा जा चुका है अस्वीकार और पलायन भी बहुत है। अनुकरण, चमत्कार-प्रदर्शन और आत्मविज्ञापन भी कम नहीं है। इन कविताओं का खतरनाक पहलू यही है कि विरोध और विद्रोह के आग्रह में ये परम्परा की जीवन्त चेतना को, मानवीय उच्चतर मूल्यों को भी अस्वीकार करने लगती हैं। और तब कविता में रह जाती है केवल अनास्था, खीझ, उत्तेजना और कुण्ठा। मुद्राराक्षस, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम-परमार, कैलाश वाजपेयी, सौमित्र मोहन आदि की कविताओं में अस्वीकार की यह मुद्रा देखी जा सकती है। विद्रोह के नाम पर केवल यौन-शब्दावली का प्रयोग और यौन-विकृतियों का प्रदर्शन धर्म के नशे की ही भाँति सेक्स का नशा है। कुछ कविताओं में विद्रोह कविता के बाह्य ढाँचे तक ही सीमित दिखायी देता है। शिल्पगत प्रयोग के आग्रह में गणित और विज्ञान के चिह्न-संकेत बड़े भोंड़े ढंग से व्यक्त हुए हैं। मानो चमत्कार पैदा करना ही कवि-कर्म हो। कलकत्ते के कुछ नये कवि अपने को ही चर्चित करने के फेर में दो-चार पृष्ठ की पत्रिका निकाल कर आये दिन एक पटाखा छोड़ते रहते हैं। इनकी कविताओं में आत्मविज्ञापन ही अधिक है, समयबोध या युगबोध नहीं। युवा कविता में ऐसे कवि भी हैं जिनमें केवल सम्भ्रम और प्रश्नाहत मुद्रा ही अधिक है। यह एक दुर्घटना ही कही जायेगी कि आज की तमाम कविताओं में गाली-गलौज, नारेबाजी, आवेश, गुस्सा, चीख-पुकार, नकलबाजी, पिष्टपेषण और हवा में मुट्ठी भाँजने वाली आक्रामकता प्रकट होने लगी है। अशोक वाजपेयी ने युवा कवियों की सतही मुद्रा, उनकी फिक़रेबाजी, उनके चालू मुहावरों और उनके पैगम्बराना या शहीदाना अन्दाज को समर्थ कविता के लिए घातक बताया है। उन्हीं के शब्दों में, "रचनात्मक स्तर पर भाषा के संस्कार के प्रति, उसकी सांस्कृतिक जड़ों के प्रति, उदासीनता आयी है और अपनी पारम्परिक अनुगूँजों और आसंगों से, कवियों के अज्ञान और अरुचि के कारण, कट जाने से काव्य-भाषा में—ज्यादातर युवा कवियों की भाषा में—सपाटता, सतहीपन और मानवीय दरिद्रता आयी है।" (फिलहाल, पृ० १०)।

आज जबकि अधिकांश युवा कविता घूम-फिर कर स्त्री और भीड़ के सरलीकरणों में उलझ जाती है और लम्बी कविताओं के नाम पर आत्मस्फीति, रूमानी अतिरंजना और बड़बोलापन प्रस्तुत किया जाता है, अशोक वाजपेयी का कहना ठीक है कि "वयस्क कविता के लिए निरा अनुभव काफी नहीं, समझ भी जरूरी है।" (फिलहाल, पृ० ११)। रचना के लिए इतिहासग्रस्तता काफी नहीं होती, क्योंकि वह संवेदन-क्षमता का विस्तार करती है। अपनी कविता को अर्थहीन होने से बचाने के लिए आज के कवि को इन चुनौतियों का रचना के स्तर पर उत्तर देना ही होगा; क्योंकि अन्ततः कविता मनुष्य की नियति को, उसकी समकालीन वास्तविकता को समझने-पहचानने का ही माध्यम है और समर्थ वह तभी है जब इस समझ या पहचान को अधिक गहराई से उजागर कर सके।

अज्ञेय

[१९११ ई०—]

कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !

कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !
समाहित क्यों नहीं होती यहाँ भी मेरे हृदय की क्रान्ति ?
क्यों नहीं अन्तर-गुहा का अशृंखल दुर्बाध्य वासी,
अथिर यायावर, अचिर में चिर-प्रवासी
नहीं रुकता, चाह कर --स्वीकार कर—विश्रान्ति ?
(मान कर भी, सभी ईप्सा, सभी कांक्षा,
जगत् की उपलब्धियाँ सब हैं लुभानी भ्रान्ति !)
तुम्हें मैंने आह ! संख्यातीत रूपों में किया है याद —
सदा प्राणों में कहीं सुनता रहा हूँ तुम्हारा संवाद—
बिना पूछे, सिद्धि कब ? इस इष्ट से होगा कहाँ साक्षात् ?
कौन-सी वह प्रात, जिस में खिल उठेगी क्लिन्न, सूनी, शिशिर-भीगी रात ?
चला हूँ मैं; मुझे सम्बल रहा केवल बोध—
पग-पग आ रहा हूँ पास;
रहा आतप-सा यही विश्वास
स्नेह के मृदु घाम से गतिमान् रखता निबिड मेरे साँस और उसास।
आह, संख्यातीत रूपों में तुम्हें मैंने किया है याद !
किन्तु—सहसा हरहराते ज्वार-सा बढ़ एक हाहाकार,
प्राण को झकझोर कर दुर्वार,
लील लेता रहा है मेरे अकिंचन कर्म-श्रम-व्यापार !
झेल लें अनुभूति के संचित कनक का जो इकट्ठा भार—
ऐसे कहाँ हैं अस्तित्व की इस जीर्ण चादर के इकहरी बाट के ये तार !

गूँजती ही रही है दुर्दान्त एक पुकार—
कहाँ है वह लक्ष्य श्रम का—विजय जीवन की—
तुम्हारा प्रतिश्रुत वह प्यार !

हरहराते ज्वार-सा बढ़ सदा आया एक हाहाकार !

अहं ! अन्तर्गुहावासी ! स्व-रति ! क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह ?

जानता क्या नहीं निज में बद्ध हो कर है नहीं निर्वाह ?
क्षुद्र नलकी में समाता है कहीं बेथाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज-दीप्त प्रवाह !
जानता हूँ ! नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान,
विश्वजन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यष्टि का अभिमान !
कान्ति अणु की है सदा गुरु-पुंज का सम्मान ।
बना हूँ कर्ता, इसी से कहूँ—मेरी चाह, मेरा दाह,
मेरा खेद और उछाह :

मुझ सरीखी अगिन लोकों से, मुझे यह सर्वदा है ध्यान,
नयी, पक्की, सुगम और प्रशस्त बनती है युगों की राह !

तुम ! जिसे मैंने किया याद, जिस से बँधी मेरी प्रीति—
कौन तुम ? अज्ञात-वय-कुल-शील मेरे मीत !
कर्म की बाधा नहीं तुम, तुम नहीं प्रवृत्ति से उपराम—
कब तुम्हारे हित थमा संघर्ष मेरा—रुका मेरा काम ?
तुम्हें धारे हृदय में, मैं खुले हाथों सदा दूँगा बाह्य का जो देय—
नहीं गिरने तक कहूँगा, 'तनिक ठहरूँ क्योंकि मेरा चुक गया पाथेय ।'

तुम ? हृदय के भेद मेरे, अन्तरंग सखा-सहेली हो,
खगों-से उड़ रहे जीवन-क्षणों के तुम पटु बहेली हो,
नियम भूतों के सनातन, स्फुरण की लीला नवेली हो,
किन्तु जो भी हो, निजी तुम प्रश्न मेरे, प्रेय प्रत्यभिज्ञेय !

मेरा कर्म, मेरी दीप्ति, उद्भव-निधन, मेरी मुक्ति, तुम मेरी
पहेली हो !

तुम जिसे मैंने किया है याद, जिस से बँधी मेरी प्रीति !

लुभानि भ्रान्ति—

कितनी शान्ति ! कितनी शान्ति !

—'हरी घास पर क्षण भर' से

•

बावरा अहेरी

भोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की
लाल-लाल कनियाँ
पर जब खींचता है जाल को
बाँध लेता है सभी को साथ :
छोटी-छोटी चिड़ियाँ
मँझोले परेवे
बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के बेडौल
उड़ने जहाज
कलस-तिसूल वाले मन्दिर-शिखर से ले
तारघर की नाटी मोटी चिपटी गोल धुस्सों वाली
उपयोग-सुन्दरी
बेपनाह काया को :
गोधूली की धूल को, मोटरों के धुएँ को भी
पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-खची तन्वि रूप-रेखा को

और दूर कचरा जलाने वाली कल की उद्दण्ड चिमनियों को, जो
धुआँ यों उगलती हैं मानों उसी मात्र से अहेरी को हरा देंगी !
बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे, सब आखेट है :
एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को
दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जायगा ?
ले, मैं खोल देता हूँ कपाट सारे
मेरे इस खँडर की शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की अनी से अपनी,
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे :
विफल दिनों की तू कलौंस पर माँज जा
मेरी आँखें आँज जा
कि तुझे देखूँ
देखूँ और मन में कृतज्ञता उमड़ आये
पहनूँ सिरोपे से ये कनक-तार तेरे—
बावरे अहेरी।

—'बावरा अहेरी' से

●

जो कहा नहीं गया

है, अभी कुछ और है जो कहा नहीं गया।
उठी एक किरण, धायी, क्षितिज को नाप गयी,
सुख की स्मिति कसक-भरी, निर्धन की नैन-कोरों में काँप गयी,
बच्चे ने किलक भरी, माँ की वह नस-नस में व्याप गयी।
अधूरी हो, पर सहज थी अनुभूति :
मेरी लाज मुझे साज बन ढाँप गयी—

फिर मुझ बेसबरे से
रहा नहीं गया।
पर कुछ और रहा जो
कहा नहीं गया।

निर्विकार मरु तक को सींचा है
तो क्या ? नदी-नाले ताल-कुएँ से पानी उलीचा है
तो क्या ? उड़ा हूँ, दौड़ा हूँ, तैरा हूँ, पारंगत हूँ,
इसी अहंकार के मारे
अन्धकार में सागर के किनारे
ठिठक गया : नत हूँ
उस विशाल में मुझसे
बहा नहीं गया।
इस लिए जो और रहा, वह
कहा नहीं गया।
शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ हैं
पर इसी लिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ हैं।
शायद केवल इतना ही : जो दर्द है
वह बड़ा है, मुझी से
सहा नहीं गया।
तभी तो, जो अभी और रहा, वह
कहा नहीं गया।

— बावरा अहेरी' से

नदी के द्वीप

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हम को छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत-कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।
किन्तु हम हैं द्वीप। हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण हो कर भी कभी क्या धार बन सकते?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गंदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।
द्वीप हैं हम। यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड में।
वह बृहद् भूखण्ड से हम को मिलाती है।
और वह भूखण्ड अपना पितर है।
नदी तुम बहती चलो।
भूखण्ड से जो दाय हम को मिला है, मिलता रहा है,
माँजती, संस्कार देती चलो—यदि ऐसा कभी हो,
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से, अतिचार से,
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर काल-प्रवाहिनी बन जाय—
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत हो कर

फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
मात : उसे फिर संस्कार तुम देना।

—'हरी घास पर क्षण भर' से

●

यह द्वीप अकेला

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।
यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला विरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।
यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग-संचय,
यह गोरस : जीवन-कामधेनु का अमृत-पूत पय,
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय,
यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुत :
इस को भी शक्ति को दे दो।
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा, है गर्व-भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।
यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा,
वह पीड़ा, जिस की गहराई को स्वयं उसी ने नापा;

कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़ुवे तम में
यह सदा-द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखण्ड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इस को भक्ति को दे दो :
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इस को भी पंक्ति को दे दो।

—'बावरा अहेरी' से

शमशेरबहादुर सिंह

[१९११ ई०—]

बात बोलेगी

बात बोलेगी
    हम नहीं।
भेद खोलेगी
    बात ही।
सत्य का मुख
    झूठ की आँखें
    क्या—देखें!

सत्य का रुख
    समय का रुख है :
अभय जनता को
    सत्य ही सुख है,
    सत्य ही सुख।

दैन्य दानव; काल
भीषण; क्रूर
स्थिति; कंगाल
    बुद्धि; घर मजूर।

सत्य का
    क्या रंग?—
पूछो
    एक संग।

एक—जनता का
दुःख : एक।
हवा में उड़ती पताकाएँ
अनेक।
दैन्य दानव। क्रूर स्थिति।
कंगाल बुद्धि : मजूर घर-भर।
एक जनता का—अमर वर :
एकता का स्वर।
—अन्यथा स्वातन्त्र्य-इति।

—'कुछ और कविताएँ' से

एक पीली शाम

एक पीली शाम
पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
शान्त
मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल
कृश म्लान हारा-सा
(कि मैं हूँ वह
मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं ?)

वासना डूबी
शिथिल पल में
स्नेह काजल में
लिए अद्‌भुत रूप-कोमलता

अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक-सा
अतल में।

—'कुछ कविताएँ' से

एक नीला आइना बेठोस

एक नीला आइना
बेठोस-सी यह चाँदनी
और अन्दर चल रहा हूँ मैं
उसी के महातल के मौन में।

मौन में इतिहास का
कन किरन जीवित, एक, बस।
एक पल के ओट में है कुल जहान।

आत्मा है
अखिल की हठ-सी।
चाँदनी में घुल गये हैं
बहुत से तारे बहुत कुछ
घुल गया हूँ मैं
बहुत कुछ अब।

रह गया सा एक सीधा बिंब
चल रहा है जो
शान्त इंगित सा
न जाने किधर।

—'कुछ कविताएँ' से

●

नागार्जुन

[१९१० ई० —]

बादल को घिरते देखा है

अमल धवल गिरि के शिखरों पर,
बादल को घिरते देखा है।

छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को,
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

तुंग हिमालय के कन्धों पर
छोटी बड़ी कई झीलें हैं,
उनके श्यामल नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल
तिक्त-मधुर बिस-तंतु खोजते
हंसों को तिरते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

ऋतु बसन्त का सुप्रभात था
मंद-मंद था अनिल बह रहा
बालारुण की मृदु किरणें थीं
अगल-बगल स्वर्णाभ शिखर थे
एक दूसरे से विरहित हो

अलग-अलग रहकर ही जिनको
सारी रात बितानी होती,
निशा काल से चिर-अभिशापित
बेबस उन चकवा-चकई का
बंद हुआ क्रन्दन फिर उनमें
उस महान सरवर के तीरे
शैवालों की हरी दरी पर
प्रणय-कलह छिड़ते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

दुर्गम बर्फानी घाटी में
शत-सहस्र फुट ऊँचाई पर
अलख-नाभि से उठने वाले
निज के ही उन्मादक परिमल—
के पीछे धावित हो होकर
तरल तरुण कस्तूरी मृग को
अपने पर चिढ़ते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

कहाँ गया धनपति कुबेर वह
कहाँ गयी उसकी वह अलका
नहीं ठिकाना कालिदास के
व्योम-प्रवाही गंगाजल का,
ढूँढ़ा बहुत परन्तु लगा क्या
मेघदूत का पता कहीं पर,
कौन बताए वह छायामय
बरस पड़ा होगा न यहीं पर,
जाने दो, वह कवि कल्पित था,
मैंने तो भीषण जाड़ों में

नागार्जुन
[१९११ ई०—]

बादल को घिरते देखा है

अमल धवल गिरि के शिखरों पर,
बादल को घिरते देखा है।

छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को,
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

तुंग हिमालय के कन्धों पर
छोटी बड़ी कई झीलें हैं,
उनके श्यामल नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल
तिक्त-मधुर बिस-तंतु खोजते
हंसों को तिरते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

ऋतु बसन्त का सुप्रभात था
मंद-मंद था अनिल बह रहा
बालारुण की मृदु किरणें थीं
अगल-बगल स्वर्णाभ शिखर थे
एक दूसरे से विरहित हो

अलग-अलग रहकर ही जिनको
सारी रात बितानी होती,
निशा काल से चिर-अभिशापित
बेबस उन चकवा-चकई का
बंद हुआ क्रन्दन फिर उनमें
उस महान सरवर के तीरे
शैवालों की हरी दरी पर
प्रणय-कलह छिड़ते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

दुर्गम बर्फानी घाटी में
शत-सहस्र फुट ऊँचाई पर
अलख-नाभि से उठने वाले
निज के ही उन्मादक परिमल—
के पीछे धावित हो होकर
तरल तरुण कस्तूरी मृग को
अपने पर चिढ़ते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

कहाँ गया धनपति कुबेर वह
कहाँ गयी उसकी वह अलका
नहीं ठिकाना कालिदास के
व्योम-प्रवाही गंगाजल का,
ढूँढ़ा बहुत परन्तु लगा क्या
मेघदूत का पता कहीं पर,
कौन बताए वह छायामय
बरस पड़ा होगा न यहीं पर,
जाने दो, वह कवि कल्पित था,
मैंने तो भीषण जाड़ों में

नभ-चुम्बी कैलाश शीर्ष पर,
महामेघ को झंझानिल से
गरज-गरज भिड़ते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।
शत-शत निर्झर-निर्झरिणी कल
मुखरित देवदारु कानन में,
शोणित-धवल भोज पत्रों से
छाई हुई कुटी के भीतर,
रंग-बिरंगे और सुगंधित
फूलों से कुंतल को साजे,
इन्द्रनील की माला डाले
शंख-सरीखे सुघड़ गलों में,
कानों में कुवलय लटकाए,
शतदल लाल कमल वेणी में,
रजत-रचित मणि-खचित कलामय
पान पात्र द्राक्षासव पूरित
रखे सामने अपने-अपने
लोहित चन्दन की त्रिपदी पर,
नरम निदाग बाल-कस्तूरी
मृगछालों पर पलथी मारे
मदिरारुण आँखों वाले उन
उन्मद किन्नर-किन्नरियों को
मृदुल मनोरम अँगुलियों को
वंशी पर फिरते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

—'युगधारा' से

किन्तु—"
उठाकर दोनों बाँह
किट किट करने लगा प्रेत
"किन्तु
भूख या क्षुधा नाम हो जिसका
ऐसी किसी व्याधि का पता नहीं हमको
सावधान महाराज,
नाम नहीं लीजिएगा
हमारे समक्ष फिर कभी भूख का ! !"
निकल गया भाफ आवेश का
तदन्तर शांत-स्तिमित स्वर में प्रेत बोला
"जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है
सुनिए महाराज,
तनिक भी पीर नहीं ।
दुख नहीं, दुविधा नहीं,
सरलतापूर्वक निकले थे प्राण
सह न सकी आँत जब पेचिश का हमला ।"
सुनकर दहाड़
स्वाधीन भारत के
भुखमरे, स्वाभिमानी, सुशिक्षक प्रेत की
रह गये निरुत्तर,
महामहिम नरकेश्वर ।

—'प्रेत का बयान' से

२

केदारनाथ अग्रवाल

[१९१२ ई०—]

कँकरीला मैदान

कँकरीला मैदान,
ज्ञान की तरह जठर-जड़ लम्बा-चौड़ा
गत वैभव की विकल याद में—
बड़ी दूर तक चला गया है गुमसुम खोया।
जहाँ-तहाँ कुछ-कुछ दूरी पर,
उस के ऊपर,
पतले-से-पतले डंठल के नाजुक बिरवे
थर-थर हिलते हुए हवा में खड़े हुए हैं
बेहद पीड़ित।
हर बिरवे पर
मुँदरी-जैसा एक फूल है
अनुपम, मनहर,
हर ऐसी मनहर मुँदरी को
मीनों ने चंचल आँखों से
नीले सागर के रेशम के रश्मि-तार से,
—हर पत्ती पर बड़े चाव से—बड़ी जतन से····
अपने-अपने प्रेमीजन को देने के खातिर काढ़ा था
सदियों पहले।
किन्तु नहीं वे प्रेमी आये
और मछलियाँ सूख गयी हैं—कंकड़ हैं अब।
आह! जहाँ मीनों का घर था
वहाँ बड़ा मैदान हो गया॥

शाश्वत सत्य

कहाँ नहीं पड़ती है किस पर
काल के मौन पंखों की बर्बर मार ?

सागर
हो जाया करता है उद्विग्न,
खौलने लगा करता है उसका गुरु-गम्भीर अस्तित्व,
और वह उड़ने लगा करता है भाफ बन कर ऊपर,
बदल-बदल जाया करता है
क्षण-पर-क्षण उसका स्वरूप !

पृथ्वी
हो जाया करती है अचेत,
पहाड़-से खड़े बड़े-से-बड़े उसके हाड़
नत हो जाया करते हैं
अवसन्न-त्वचाहीन !
बड़ी-बड़ी नदियों की उसकी बड़ी-बड़ी आँतें
परित्यक्त केचुलों की तरह—
हो जाया करती हैं व्यर्थ !

आकाश
हो जाया करता है धुआँ-धुंध,
दिशाओं की जेल
मूर्छना की तरह फैला
भयावना, अछोर, निर्दीप !

आग
हो जाया करती है कुंठित कृपाण,
निस्तेज, भूमि पर पड़ी, बल-विक्रम-विहीन,

मरे योद्धाओं के बगल में।
फिर भी सागर, पृथ्वी, नदियाँ, आकाश
और आग,
मार-पर-मार के बाद भी,
समाप्त नहीं हुए।

और
अब भी लहराता है सागर भरपूर जवान,
अब भी फल-फूल से भरी रहती है पृथ्वी छविमान,
अब भी नये-नये चाँद और सूरज उगाया करता है आकाश,
अब भी आग मशाल जलाया करती है आदमियों की,
युग की,
सत्य की टोह के लिए,
विचार को दिशा देने के लिए।

२५-५-१९६०

गजानन माधव मुक्तिबोध

[१९१७–१९६४ ई०]

रंगों में सुलगी हुई एक सुनहली शनाख्त

हर चीज

जब अपनी एक सपनीली छाँह डालती है,

तब न मालूम कहाँ से एक खयाल

खड़ा हो कर
गले में बाँह डालता है;

मुलायम मीठा एक उबाल

दिल उछलता है

छोटे से बड़ा हो कर
कि आखिर बहैसियत एक आदमी के

न कि सवालात की हवालात

या कि समस्याओं की

सुनहली अकादमी के,

हाँ, बहैसियत सिर्फ आदमी के,

सीधे-सीधे

बिलकुल, कतई,

हम दिल के सुनहले तीर

बाहर क्यों नहीं फेंक पाते

तेज-तेज,

और बाहर की चीज
उसी तेजी से वापस क्यों नहीं फेंकती
अपने पूरे लहरीले रंग

कि जिन से दिल
जरा-सा सुलगे और भभक जाय,
उस बाहर के भीतर की तसवीर
उभर आय
कि जिस को जलती हुई भाफ
अपने-आप
हमें दे जाय
रंगों में सुलगी हुई एक सुनहली शनाख्त,
और हम
लिये-लिये घिरा-घिरा गहरा-सा वक्त
चल पड़ें
यों कि एक रास्ते से लम्बे ही लम्बे
बिछते और तनते और निकलते चले जायँ,
एक जंगल से घने-ही-घने बियाबान
बनते और दृश्य बदलते चले जायँ
आसमान से खुले-ही-खुले
चारों ओर फैलें
एक तेज निगाह से सीधे-ही-सीधे
खूब पहचानें और समेट लें पी लें।
ब्रह्माण्ड की काल-सूचक घड़ियों के
मिनिटों और घण्टों को
धड़कन में ले लें और जी लें।
लेकिन, यह नहीं होता है।
हवा सिर पर से लहराती हुई
गुजर जाती है
धमनियों में घुस नहीं पाती।
पहचानें जरा-सी छूती हैं
उड़ जाती हैं

दिल में बस नहीं पातीं।
यही कारण है कि रेत के ढेर-सी दिखती है
तो किसी को यह दुनिया
पके हुए बेर-सी दिखती है
कि जिस को वह तोड़े और खा जाय,
तो किसी को वह लहँगे के घेर-सी
कि जिस में वह पैठे और समा जाय,
तो किसी को वह रीछ-सी, आलू-सी,
किसी को कद्दू-सी, भालू-सी,
किसी को बौनी-ही बौनी
चपटी-ही-चपटी,
तो किसी को कुछ,
तो किसी को कुछ।
और, तब इस अदने
और नाचीज को यह लगने लगता है
कि चारों तरफ फैली हुई शानदार मुगलिया सल्तनत में
काली शेरवानी की मखमली खोल
जो पहने हुए हैं
खूबसूरती से,
(अपने-आप में जो चमकदार गहने हुए हैं)
उन के भीतर
हाँ, भीतर
एक मुस्तैद—
दीवार खड़ी हुई है
(छोटी से बड़ी हुई है)
नंगी, सील-खायी और खुरदुरी
उस पर अजीब कारीगरी—

नक्शी, मीनाकारी और तसवीरें,
और, न जाने क्या-क्या,
वाह वा !!
लेकिन, पलिस्तर उखड़ गये हैं,
और गड्ढे पड़ गये हैं,
और उन गड्ढों में फलसफे का रंग
झख मारता हुआ ढंग
उन्हीं में से एक में
मेहराबदार ताक,
ताक में अँधेरा
अँधेरे में देव-देवताओं की मूर्तियाँ—
पुरानी फुर्तियाँ जो जरूरत पड़ने पर
फिर काम आ सकें,
दाम ला सकें ।
हर आदमी इस सल्तनत में उचक कर
चढ़ जाना चाहता है,
धक्का देते हुए बढ़ जाना चाहता है,
हर एक को अपनी-अपनी
पड़ी हुई है :
चढ़ने की सीढ़ियाँ
सिर पर चढ़ी हुई हैं ।
निसैनी—सोपानों का क्रम
ऊपर, हाथों में उठा हुआ
सिर पर पल रहा है
हर एक अपना-अपना स्वर्ग, सेतु
बुलडोजर, क्रेन उठाये चल रहा है
और वही—हर एक—

लाल-लाल आँखों से घूरते हुए
दूसरे बुलडोजर और लोहे के जीने वाले को
मन-ही-मन कहता है—
—मारो स्साले को।
लिहाजा यह सूरत पैदा हुई
कि फूट, फूट, दुई, दुई

बाहर भी

दिल के भीतर भी।

नफ़रत और नफ़ासत
बीवी के साथ भी सियासत!
लेकिन, इन सब सफेद
चमचमाते शानदारों की धाक है····
मेरा दिल चाक है।
चक्के हैं, चक्के हैं, चक्के हैं
सब लोग सब्र कहीं जा रहे हैं,
लेकिन, कोई कहीं नहीं जा रहा है।
रफ्तारें तेज हैं,
लेकिन, देखो तो, जबर्दस्त
तेजी के भीतर एक
जमीन-जुड़ा
अटल चबूतरा········
लम्बा-सा घाट है
घाट तो पहले से वहीं का वहीं है,
सिर्फ लहरें दौड़ रही हैं,
गति आभास है
अपना कयास है
फिर भी ये रफ्तारें तेज हैं

(कल तक तो मेरे पास
चटाई थी सिर्फ
आज टेबल है, मेज है)

भीड़-भड़क्का है
सँभलो, अपनी अटैची सँभाल कर रखो
जमाना उचक्का है।
इसी लिए दिमाग के भीतर एक दिमाग में
जहरीली आग है
अकेले में दाँत पीसता हुआ झाग है।
टिकिट कलेक्टर है, ऊँचा सफेदपोश वक्त।
वैल-शेव्ड चेहरा है काला और सख्त।
बिला-टिकिट कोई भी,
समस्या विकट है,
जिस के पास पैसा है उस के पास टिकिट है।

बाहर.....एडवर्टिजमेण्ट
आदमकद तसवीरें
देखते खड़े रहो
सूनापन चाखते और चुपचाप
चीखते खड़े रहो
अपनी फिजूल-सी हस्ती को
चाटते खड़े रहो,
मनहूसी बाँटते खड़े रहो,
शायर बन जाओ
दुनिया से तन जाओ।
जी हाँ, इसी लिए,
न मेरी उन से बनती है
जो काली शेरवानी की खोल में

सिर्फ दीवाल हैं
न उन से, जो जबड़े की पोल में
लार टपकाती हुई खाल हैं,
सिर्फ एक मनहूस
बदमिजाज बवाल हैं।
चूँकि मेरी उन सब से ठनती है
इसी लिए कभी-कभी मेरी
मुझसे ही नहीं बनती है।
लेकिन, दिल में एक याद
चिलचिलाती-चिलकती रहती है
उन लोगों की
जिन के चेहरों पर
वीरान खण्डहरों की धूप और
घने पेड़ों के साये मँडलाया करते हैं
जो मारे-मारे-से हमारे-से
ईंट के सिरहाने अकेले लेटते हैं
धूल के बवण्डर-सा वक्त समेटते हैं
जो बहुत गुरूर से
सिर्फ इन्सान होने की हैसियत रखते हैं
जैसे आसमान, या पेड़, या मैदान
अपनी-अपनी
एक खास शान और शख्सियत रखते हैं
वैसे ही और ठीक उसी ठोस
और पक्की बुनियाद पर
जो अपने लिए इज्जत तलब करते हैं
बराबरी का हक, बराबरी का दावा
नहीं तो मुठभेड़ और धावा

अब आप चाहे सरकार हों
या साहूकार हों,
उन के साथ
मेरी पटरी बैठती है
उन के साथ
हाँ उन्हीं के साथ
मेरी यह बिजली-भरी ठठरी लेटती है
और रात कटती है।
शायद यह मेरी बहुत बड़ी भूल है
लेकिन, मेरी यह गरीब दुनिया
उन्हीं के बदनसीब हाथों से चलती है।

एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्म-कथन

दुःख तुम्हें भी है,
दुःख मुझे भी।
हम एक ढहे हुए मकान के नीचे
दबे हैं।
चीख निकलना भी मुश्किल है,
असम्भव···
हिलना भी।
भयानक है बड़े-बड़े ढेरों की
पहाड़ियों-नीचे दबे रहना और
महसूस करते जाना
पसली की टूटी हुई हड्डी।

भयंकर है! छाती पर वजन टीलों का
रखे हुए
ऊपर के जड़ीभूत दवाव से दबा हुआ
अपना स्पन्द
अनुभूत करते जाना,
दौड़ती रुकती हुई धुकधुकी
महसूस करते जाना भीषण है।
भयंकर है।
वाह क्या तजुरवा है!!
छाती में गड्ढा है!!

पुराना मकान था, ढहना था, ढह गया,
बुरा क्या हुआ?
बड़े-बड़े दृढ़ाकार दम्भवान
खम्भे वे ढह पड़े!!
जड़ीभूत परतों में, अवश्य, हम दब गये।
हम उनमें रह गये,
बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ!!

पृथ्वी के पेट में घुस कर जब
पृथ्वी के हृदय की गरमी के द्वारा सब
मिट्टी के ढेर ये चट्टान बन जायेंगे
तो उन चट्टानों की
आन्तरिक परतों की सतहों में
चित्र उभर आयेंगे
हमारे चेहरे के, तन-बदन शरीर के,
अन्तर की तसवीरें उभर आयेंगी, सम्भवतः,
यही एक आशा है कि
मिट्टी के अँधेरे उन

इतिहास-स्तरों में तब
हमारा भी चिह्न रह जायगा।
नाम नहीं, कीर्ति नहीं,
केवल अवशेष, पृथ्वी के खोदे हुए गड्ढों में
रहस्यमय पुरुषों के पंजर और
ज़ंग-खायी नोकों के अस्त्र!!
स्वयं की जिन्दगी फ़सिल कभी नहीं रही,

क्यों हम बागी थे,
उस वक्त,
जब रास्ता कहाँ था ?
दीखता नहीं था कोई पथ।
अब तो रस्ते-ही-रस्ते हैं।
मुक्ति के राजदूत सस्ते हैं !

क्योंकि हम बागी थे,
आखिर, बुरा क्या हुआ ?
पुराना महल था,
ढहना था, ढह गया।
वह चिड़िया,
उसका वह घोंसला···
जाने कहाँ दब गया।
अँधेरे छेदों में चूहे भी मर गये,
हमने तो भविष्य
पहले कह रखा था कि—
केंचुली उतारता साँप दब जायगा अकस्मात्,
हमने तो भविष्य पहले ही कह रखा था !
लेकिन अनसुनी की लोगों ने !!

वैसे, चूंकि हम दब गये, इसलिए
दुःख तुम्हें भी है,
मुझे भी।
नक्शीदार कलात्मक कमरे भी ढह पड़े,
जहाँ एक जमाने में
चूमे गये होठ,
छाती जकड़ी गयी आवेशालिंगन में।
पुरानी भीतों की बास मिली हुई
इक महक
तुम्हारे चुम्बन की
और उस कहानी का अंगारी अंग-स्पर्श
गया, मृत हुआ !!
हम एक ढहे हुए
मकान के नीचे दबे पड़े हैं।
हमने पहले कह रखा था महल गिर जायगा।
खूबसूरत कमरों में कई बार,
हमारी आँखों के सामने,
हमारे विद्रोह के बावजूद,
बलात्कार किये गये
नक्शीदार कक्षों में।
भोले निर्व्याज नयन हिरनी-से
मासूम चेहरे
निर्दोष तन-बदन
दैत्यों की बाँहों के शिकंजों में
इतने अधिक
इतने अधिक जकड़े गये

कि जकड़े ही जाने के
सिकुड़ते हुए घेरे में वे तन-मन
दबते-पिघलते हुए एक भाफ बन गये।
एक कुहरे की मेह,
एक धूमैला भूत,
एक देह-हीन पुकार,
कमरे के भीतर और इर्द-गिर्द
चक्कर लगाने लगी।
आत्म-चैतन्य के प्रकाश—
भूत बन गये।
भूत-बाधा-ग्रस्त
कमरों को अन्ध-श्याम सायँ-सायँ
हमने बतायी तो
दण्ड हमीं को मिला,
बागी करार दिये गये,
चाँटा हमीं को पड़ा,
बन्द तहखाने में—कुओं में फेंके गये
हमीं लोग !!
क्योंकि हमें ज्ञान था,
ज्ञान—अपराध बना।
महल के दूसरे
और-और कमरों में कई रहस्य—
तकिये के नीचे पिस्तौल,
गुप्त ड्रॉअर,
गद्दियों के अन्दर छिपाये-सिये गये
खून-रँगे पत्र, महत्त्वपूर्ण !!
अजीब कुछ फोटो !!
रहस्य-पुरुष-छायाएँ

लिखती हैं
इतिहास इस महल का।

अजीब संयुक्त परिवार है—
औरतें व नौकर और मेहनतकश
अपने ही वक्ष को
खुरदरा वृक्ष-धड़
मान कर घिसती हैं, घिसते हैं
अपनी ही छाती पर ज़बर्दस्ती
विष-दन्ती भावों का सर्प-मुख।
विद्रोही भावों का नाग-मुख
रक्त प्लुत होता है!
नाग जकड़ लेता है बाहों को,
किन्तु वे रेखाएँ मस्तक पर
स्वयं नाग होती हैं!
चेहरे के स्वयं भाव सरीसृप होते हैं,
आँखों में जहर का नशा रंग लाता है।
बहुएँ मुडेरों से कूद अरे!
आत्महत्या करती हैं!!
ऐसा मकान यदि ढह पड़ा,
हवेली गिर पड़ी,
महल धराशायी, तो
बुरा क्या हुआ?
ठीक है कि हम भी तो दब गये,
हम जो विरोधी थे
कुओं-तहखानों में कैद-बन्द,
लेकिन, हम इसलिए
मरे कि जरूरत से

ज्यादा नहीं, बहुत-बहुत कम
हम बागी थे !!

मेरे साथ
खण्डहर में दबी हुई अन्य धुकधुकियो,
सोचो तो—
कि स्पन्द अब....
पीड़ा-भरा उत्तरदायित्व-भार हो चला,
कोशिश करो,
कोशिश करो,
जीने की,
जमीन में गड़ कर भी।

इतने भीम जड़ीभूत
टीलों के नीचे हम दबे हैं,
फिर भी जी रहे हैं।
सृष्टि का चमत्कार !!
चमत्कार प्रकृति का जरा और फैलाये।
सभी कुछ ठोस नहीं खंडेरों में।
हजारों छेद, करोड़ों रन्ध्र,
जिनमें से छन-छन कर
पवन भी आता है।
ऐसा क्यों ?
हवा ऐसा क्यों करती है ?
ऑक्सीजन
नाक से
पी लें खूब, खूब पी लें।
आवाज आती है,
सातवें आसमान में कहीं दूर

इन्द्र के ढह पड़े महल के खण्डहर को
बिजली की गेंतियाँ व फावड़े
खोद-खोद
ढेर दूर कर रहे।
कहीं से फिर एक
आती आवाज—
'कई ढेर बिलकुल साफ हो चुके
और तभी—
किसी अन्य गम्भीर-उदात्त
आवाज ने
चिल्लाकर घोषित किया—
"प्राथमिक शाला के
बच्चों के लिए एक
खुला-खुला, धूप-भरा साफ-साफ
खेल-कूद-मैदान-सपाट-अपार—
यों बनाया जायगा कि
पता भी न चलेगा कि
कभी महल था यहाँ भगवान इन्द्र का";
हम यहाँ जमीन के नीचे दबे हुए हैं।

गड़ी हुई अन्य धुकधुकियो,
खुश रहो
इसी में कि
वक्षों में तुम्हारे अब
बच्चे ये खेलेंगे।
छाती की मटमैली जमीनी सतहों पर
मैदान, धूप व खुली-खुली हवा खूब
हँसेगी व खेलेगी।

किलकारी भरेंगे ये बालगण

लेकिन, दबी धुकधुकियो,
सोचो तो कि
अपनी ही आँखों के सामने
खूब हम खेत रहे !
खूब काम आये हम !!
आँखों के भीतर की आँखों में डूब-डूब
फैल गये हम लोग !!
आत्म-विस्तार यह
बेकार नहीं जायगा।
जमीन में गड़े हुए देहों की खाक से
शरीर की मिट्टी से, धूल से ।
खिलेंगे गुलाबी फूल।
सही है कि हम पहचाने नहीं जाएँगे।
दुनिया में नाम कमाने के लिए
कभी कोई फूल नहीं खिलता है
हृदयानुभव-राग-अरुण
गुलाबी फूल, प्रकृति के गन्ध-कोष
काश, हम बन सकें।

—'चांद का मुँह टेढ़ा है' से

गिरिजाकुमार माथुर

[१९१९ ई०—]

असिद्ध की व्यथा

नदियाँ, दो-दो अपार
बहतीं विपरीत छोर
कब तक मैं दोनों धाराओं में साथ बहूँ
ओ मेरे सूत्रधार !

नौकाएँ दो भारी
अगल दिशाओं जातीं
कब तक मैं दोनों को एक साथ खेता रहूँ—
एक देह की पतवार—

दो-दो दरवाजे हैं
अलग-अलग-क्षितिजों में
कब तक मैं दोनों की देहरियाँ लाँघा करूँ
ओ असिद्ध,
एक साथ

छोटी-सी मेरी कथा
छोटा-सा घटना-क्रम
हवा के भँवर-सा पलव्यापी यह इतिहास
टूटे हुए असम्बद्ध टुकड़ों में बाँट दिया
तुम ने
ओ अदृश्य, विरोधाभास !

अधभोगे

अधडूबे

रहे सभी कथा-खण्ड

दूरी से छू कर ही निकल गयीं घटनाएँ

भीतर बहुत सूखा रहा

हुआ नहीं सराबोर

देह भी न भीगी कभी इस प्रकार

कि साँसें न समा पायें

क्यों सारी दुनियां की

मनचीती बातें सभी

लगती रहीं मलीन

क्यों मन की दूर तहों में बैठा रहा, अडिग

ऊसर एक उदासीन

हँसने का नाट्य किया

खुशियों का रूप धरा

कोरी आदत को सचाई माना मैंने

मेरे अनबींधे, बुझे

आसक्तिहीन प्यार !

एक ओर तर्क है

एक ओर संस्कार

दोनों तूफ़ानों का

दुहरा है अन्धकार

किस को मैं छोड़ूँ

किस को स्वीकार करूँ

ओ मेरी आत्मा में ठहरे हुए इन्तज़ार !

—'तार सप्तक' से

भोर : एक लैण्ड्स्केप

अविरल जलते रजनी के दीपक मन्द हुए
अब ब्राह्म घड़ी का ठण्डा सा आलोक जगा
भैरव के मन्द्र स्वरों के पहले कम्पन सा
वे सात पहरुए उतर गये हैं पश्चिम में
ले अँधियारे का सिंहासन,
हल्की हो गयीं हवो की तिमिर दबी साँसें
भ्रम की स्वर्गंगा के निशान
जो लुप्त प्राय नक्षत्रों में हैं शेष रहे
प्रतिपल पीतल-से रंगहीन होते जाते,

तामस के शासन का प्रतीक
बुझता है वह अन्तिम प्रदीप
अन्तिम तारा
तम गढ़ के ढहते भारी कोट कंगूरों से,

यह प्रथम प्रदोष निमिष है नए उजेले का
जीवन के नये जागरण का
अब युग की अँधियारी रजनी मिटने को है
जनरवि का अग्र प्रकाश-चरण
अंकित हो रहा धरा के मैले आँचल पर
जिसमें मानवता छिपी धूप बन सोती है।

—'धूप के धान' से

●

हेमन्ती पूनों

चाँद हेमन्ती
हवा बहती कटीली
चाँदनी फैली हुई है
ओस नीली

चाँदनी-डूबी हवा सुधि-गन्ध लाती
याद के हिम वक्ष से आँचल उड़ाती
चाँद के जब गोल बीसों आइनों में
मोम की सित मूर्ति-सी गत आयु आती

हर निशा तब
पूर्णिमा बनती सजीली
चाँदनी फैली हुई है
ओस नीली

आज जीवन चाँदनी रूठी हुई है
आयु छवि शतखण्ड है टूटी हुई है
ज़िन्दगी के चाँद का ठहराव कम है
आइनों की पाँत यों फूटी हुई है

पूर्णिमा भी इसलिए
लगती मटीली
चाँदनी फैली हुई
ओस नीली

आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल

कौन जाने स्याह शीशा चाँद हो कल
उड़े उजली धूप बनकर चाँदनी भी
आबनूसी मूर्ति-सी हो आयु उज्ज्वल
इसलिए हेमंत की
यह मन्द ठिठुरन
तन छुवन से
उष्म तुम कर दो, रसीली ।

—'धूप के धान' से

धर्मवीर भारती

[१९२६ ई०—]

कौरव नगरी

तीन बार तूर्यनाद के उपरान्त

कथा-गायन

टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा
यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है
क्या अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है
अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन
भय का अन्धापन, ममता का अन्धापन
अधिकारों का अन्धापन जीत गया
जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमलतम था
वह हार गया···द्वापर युग बीत गया

[पर्दा उठने लगता है]

यह महायुद्ध के अंतिम दिन की संध्या
है छाई चारों ओर उदासी गहरी
कौरव के महलों का सूना गलियारा
हैं घूम रहे केवल दो बूढ़े प्रहरी

[पर्दा उठने पर स्टेज खाली है। दाईं ओर और बाईं ओर बरछे और ढाल लिये दो प्रहरी हैं जो वार्तालाप करते हुए यन्त्र परिचालित से स्टेज के आर-पार चलते हैं।]

प्रहरी १. थके हुए हैं हम,
पर घूम-घूम पहरा देते हैं
इस सूने गलियारे में

प्रहरी २. सूने गलियारे में
जिसके इन रत्न-जटित फ़र्शों पर
कौरव-वधुएँ
मन्थर-मन्थर गति से
सुरभित पवन-तरंगों-सी चलती थीं

आज वे विधवा हैं !

प्रहरी १. थके हुए हैं हम,
इसलिए नहीं कि
कहीं युद्धों में हमने भी
बाहुबल दिखाया है
प्रहरी थे हम केवल
सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम में
भाले हमारे ये,
ढालें हमारी ये
निरर्थक पड़ी रहीं
अंगों पर बोझ बनी
रक्षक थे हम केवल
लेकिन रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ

प्रहरी २. रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ…
संस्कृति थी यह एक बूढ़े और अन्धे की
जिसकी सन्तानों ने
महायुद्ध घोषित किए,
जिसके अन्धेपन में मर्यादा
गलित अंग वेश्या-सी

प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी
उस अन्धी संस्कृति,
उस रोगी मर्यादा की
रक्षा हम करते रहे
सत्रह दिन।

प्रहरी १. जिसने अब हमको थका डाला है
मेहनत हमारी निरर्थक थी
आस्था का,
साहस का,
श्रम का,
अस्तित्व का हमारे
कुछ अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था

प्रहरी २. अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था
जीवन के अर्थहीन
सूने गलियारे में
पहरा दे देकर
अब थके हुए हैं हम
अब चुके हुए हैं हम

[चुप होकर वे आरपार घूमते हैं। सहसा स्टेज पर प्रकाश धीमा हो जाता है। नेपथ्य से आंधी की सी ध्वनि आती है। एक प्रहरी कान लगा कर सुनता है, दूसरा भौंहों पर हाथ रख कर आकाश की ओर देखता है।]

प्रहरी १. सुनते हो
कैसी है ध्वनि यह
भयावह ?

प्रहरी २. सहसा अँधियारा क्यों होने लगा
देखो तो
दीख रहा है कुछ

प्रहरी १. अन्धे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे ?
दीख नहीं पड़ता कुछ
हाँ, शायद बादल है

[दूसरा प्रहरी भी बगल में आकर देखता है और भयभीत हो उठता है]

प्रहरी २. बादल नहीं है
ये गिद्ध हैं
लाखों करोड़ों
पाँखें खोले

[पंखों की ध्वनि के साथ स्टेज पर और भी अँधेरा]

प्रहरी १. लो,
सारी कौरव नगरी
का आसमान
गिद्धों ने घेर लिया

प्रहरी २. झुक जाओ
झुक जाओ
ढालों के नीचे
छिप जाओ
नरभक्षी हैं
ये गिद्ध भूखे हैं

[प्रकाश तेज होने लगता है]

प्रहरी १. लो ये मुड़ गए
कुरुक्षेत्र की दिशा में

[आँधी की ध्वनि कम होने लगती है]

प्रहरी २. मौत जैसे
ऊपर से निकल गई

प्रहरी १. अशकुन है
भयानक यह।
पता नहीं क्या होगा
कल तक
इस नगरी में

[विदुर का प्रवेश, बाईं ओर से]

प्रहरी १. कौन है ?
विदुर. मैं हूँ
विदुर
देखा धृतराष्ट्र ने ?
देखा यह भयानक दृश्य ?

प्रहरी १. देखेंगे कैसे वे ?
अन्धे हैं।
कुछ भी क्या देख सके
अब तक
वे ?

विदुर. मिलूँगा उनसे मैं
अशकुन भयानक है।
पता नहीं संजय
क्या समाचार लायें आज ?

[प्रहरी जाते हैं, विदुर अपने स्थान पर चिन्तातुर खड़े रहते हैं। पीछे का पर्दा उठने लगता है।]

कथा-गायन

है कुरुक्षेत्र से कुछ भी खबर न आई
जीता या हारा बचा-खुचा कौरव-दल

जाने किसकी लोथों पर जा उतरेगा
यह नरभक्षी गिद्धों का भूखा बादल

अन्तःपुर में मरघट की सी खामोशी
कृश गान्धारी बैठी हैं शीश झुकाए
सिंहासन पर धृतराष्ट्र मौन बैठे हैं
संजय अब तक कुछ भी संवाद न लाए

[पर्दा उठने पर अन्तःपुर। कुशासन बिछाये सादी चौकी पर गान्धारी। एक छोटे सिंहासन पर चिन्तातुर धृतराष्ट्र। विदुर उनकी ओर बढ़ते हैं।]

धृतराष्ट्र. कौन संजय ?

विदुर. नहीं !
विदुर हूँ,
महाराज।
विह्वल है सारा नगर आज
बचे-खुचे जो भी दस-बीस लोग
कौरव नगरी में हैं
अपलक नेत्रों से
कर रहे प्रतीक्षा हैं
संजय की

[कुछ क्षण महाराज के उत्तर की प्रतीक्षा कर]

महाराज
चुप क्यों हैं इतने
आप ?
माता गान्धारी भी मौन हैं !

धृतराष्ट्र. विदुर !
जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशंका व्यापी है।

विदुर. आशंका ?
आपको जो व्यापी है आज
वह वर्षा पहले हिला गई थी सब को

धृतराष्ट्र. पहले पर कभी भी तुमने यह नहीं कहा....

विदुर. भीष्म ने कहा था,
गुरु द्रोण ने कहा था,
इसी अन्तःपुर में
आकर कृष्ण ने कहा था—
'मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा
कुचले हुए अजगर-सी
गुंजलिका में कौरव-वंश को लपेट कर
सूखी लकड़ी-सा तोड़ डालेगी।'

धृतराष्ट्र. समझ नहीं सकते हो
विदुर तुम।
मैं था जन्मान्ध।
कैसे कर सकता था
ग्रहण मैं
बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को ?

विदुर. जैसे संसार को किया था ग्रहण
अपने
अन्धेपन
के बावजूद

धृतराष्ट्र. पर वह संसार
स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था।
मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था

केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु-जगत्
इन्द्रजाल की माया-सृष्टि के समान
घने गहरे अँधियारे में
एक काले बिन्दु से
मेरे मन ने सारे भाव किये थे विकसित
मेरी सब वृत्तियाँ उसी से परिचालित थीं !
मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था।
उसमें नैतिकता का कोई बाह्य मापदंड था ही नहीं।
कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे
वे ही थे अन्तिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी,
मर्यादा थी।

विदुर. पहले ही दिन से किन्तु
आपका वह अन्तिम सत्य
—कौरवों का सैनिक-बल—
होने लगा था सिद्ध झूठा और शक्तिहीन
पिछले सत्रह दिन से
एक-एक कर
पूरे वंश के विनाश का
संवाद आप सुनते रहे।

धृतराष्ट्र. मेरे लिए वे संवाद सब निरर्थक थे।
मैं हूँ जन्मांध
केवल सुन ही तो सकता हूँ
संजय मुझे देते हैं केवल शब्द
उन शब्दों से जो आकार-चित्र बनते हैं
उनसे मैं अब तक अपरिचित हूँ

कल्पित कर सकता नहीं
कैसे दु:शासन की आहत छाती से
रक्त उबल रहा होगा,
कैसे क्रूर भीम ने अँजुली में
धार उसे
ओठ तर किये होंगे।

गान्धारी. [कानों पर हाथ रखकर]
महाराज।
मत दोहरायें वह
सह नहीं पाऊँगी।
[सब क्षण भर चुप]

धृतराष्ट्र. आज मुझे भान हुआ।
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ।
सहसा यह उगा कोई बाँध टूट गया है
कोटि-कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को
लहरों की विषमय जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अन्तर्मन में पैठ गया
सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ।

विदुर. यह जो पीड़ा ने
पराजय ने
दिया है ज्ञान,
दृढ़ता ही देगा वह।

धृतराष्ट्र. किन्तु, इस ज्ञान ने
भय ही दिया है विदुर।
जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशंका व्यापी है।

विदुर. भय है तो
ज्ञान है अधूरा अभी।
प्रभु ने कहा था यह....
'ज्ञान जो समर्पित नहीं है
अधूरा है
मनोबुद्धि तुम अर्पित कर दो
मुझे।
भय से मुक्त होकर
तुम प्राप्त मुझे ही होगे
इसमें सन्देह नहीं।'

गान्धारी. [आवेश से]
इसमें संदेह है
और किसी को मत हो
मुझको है।
'अर्पित कर दो मुझको मनोबुद्धि'
उसने कहा है यह .
जिसने पितामह के वाणों से
आहत हो
अपनी सारी ही
मनोबुद्धि खो दी थी ?
उसने कहा है यह,
जिसने मर्यादा को तोड़ा बार-बार ?

धृतराष्ट्र. शान्त रहो,

शान्त रहो,
गान्धारी शान्त रहो।
दोष किसी को मत दो
अन्धा था मैं....

गान्धारी. लेकिन अन्धी नहीं थी मैं।
मैंने यह बाहर का वस्तु-जगत् अच्छी तरह जाना था
धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब हैं केवल आडम्वर मात्र,
मैंने यह बार-बार देखा था।
निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आये हैं सदा
हम सब के मन में कहीं एक अन्ध गह्वर है।
बर्बर पशु, अन्धा पशु वास वहीं करता है,
स्वामी जो हमारे विवेक का,
नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण
यह सब हैं अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें
जिनमें कटे कपड़ों की आँखें सिली रहती हैं
मुझको इस झूठे आडम्बर से नफ़रत थी
इसलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों पर पट्टी चढ़ा रक्खी थी

विदुर. कटु हो गयी हो तुम
गान्धारी!
पुत्रशोक ने तुमको अन्दर से
जर्जर कर डाला है!
तुम्हीं ने कहा था
दुर्योधन से...

गान्धारी. मैंने कहा था दुर्योधन से
धर्म जिधर होगा ओ मूर्ख!

उधर जय होगी !
धर्म किसी ओर नहीं था। लेकिन !
सब ही थे अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित,
जिसको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया।
वंचक है।

धृतराष्ट्र. शान्त रहो गान्धारी।

विदुर. यह कटु निराशा की
उद्धत अनास्था है।
क्षमा करो प्रभु !
यह कटु अनास्था भी अपने
चरणों में स्वीकार करो !
आस्था तुम लेते हो
लेगा अनास्था कौन ?
क्षमा करो प्रभु
पुत्रशोक से जर्जर माता हैं गान्धारी।

गान्धारी. माता मत कहो मुझे
तुम जिसको कहते हो प्रभु
वह भी मुझे माता ही कहता है।
शब्द यह जलते हुए लोहे की सलाखों-सा
मेरी पसलियों में धँसता है।
सत्रह दिन के अन्दर
मेरे सब पुत्र एक-एक कर मारे गए
अपने इन हाथों से
मैंने उन फूलों-सी वधुओं की कलाइयों से
चूड़ियाँ उतारी हैं

अपने इस आँचल से
सेंदूर की रेखाएँ पोंछी हैं।
[नेपथ्य से] जय हो
दुर्योधन की जय हो।
गान्धारी की जय हो।
मंगल हो,
नरपति धृतराष्ट्र का मंगल हो।

धृतराष्ट्र. देखो।
विदुर देखो ! संजय आये।

गान्धारी. जीत गया
मेरा पुत्र दुर्योधन
मैंने कहा था
वह जीतेगा निश्चय आज
[प्रहरी का प्रवेश]

प्रहरी. याचक है महाराज।
[याचक का प्रवेश]
एक वृद्ध याचक है।

विदुर. याचक है ?
उन्नत ललाट
श्वेतकेशी
आजानुबाहु ?

याचक. मैं वह भविष्य हूँ
जो झूठा सिद्ध हुआ आज
कौरव की नगरी में
मैंने मापा था, नक्षत्रों की गति को
उतारा था अंकों में।

मानव-नियति के
अलिखित अक्षर जाँचे थे !
मैं था ज्योतिषी दूर देश का।

धृतराष्ट्र. याद मुझे आता है
तुमने कहा था कि द्वन्द्व अनिवार्य है
क्योंकि उससे हो जय होगी कौरव-दल की

याचक. मैं हूँ वही
आज मेरा विज्ञान सब मिथ्या ही सिद्ध हुआ।
सहसा एक व्यक्ति
ऐसा आया जो सारे
नक्षत्रों की गति से भी ज्यादा शक्तिशाली था।
उसने रणभूमि में
विषादग्रस्त अर्जुन से कहा—
'मैं हूँ परात्पर।
जो कहता हूँ करो
सत्य जीतेगा
मुझसे लो सत्य, मत डरो।'

विदुर. प्रभु थे वे !

गान्धारी. कभी नहीं !

विदुर. उनकी गति में ही
समाहित है सारे इतिहासों की,
सारे नक्षत्रों की दैवी गति

याचक. पता नहीं
प्रभु हैं या नहीं
किन्तु, उस दिन यह सिद्ध हुआ

जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को,
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है।
नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित—
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता-मिटाता है।

गान्धारी. प्रहरी, इसको एक अंजुल मुद्राएँ दो।
तुमने कहा है
'जय होगी दुर्योधन की।'

याचक. मैं तो हूँ झूठा भविष्य मात्र।
मेरे शब्दों का इस वर्त्तमान में
कोई मूल्य नहीं
मेरे जैसे
जाने कितने
झूठे भविष्य
ध्वस्त स्वप्न
गलित तत्त्व
बिखरे हैं कौरव की नगरी में
गली-गली।
माता हैं गान्धारी
ममता में पाल रही हैं सब को।

[प्रहरी मुद्राएँ लाकर देता है]

जय हो दुर्योधन की
जय हो गान्धारी की

[जाता है ?]

गान्धारी. होगी,
अवश्य होगी जय।
मेरी यह आशा

यदि अन्धी हैं तो हों
पर जीतेगा, दुर्योधन जीतेगा।

[दूसरा प्रहरी आकर दीप जलाता है]

विदुर. डूब गया दिन……

धृतराष्ट्र. पर
संजय नहीं आये
लौट गए होंगे
सब योद्धा अब शिविर में
जीता कौन ?
हारा कौन ?

विदुर. महाराज।
संशय मत करें।
संजय जो समाचार लायेंगे शुभ होगा
माता अब आकर विश्राम करें !
नगर-द्वार अपलक खुले ही हैं
संजय के रथ की प्रतीक्षा में

[एक ओर विदुर और दूसरी ओर धृतराष्ट्र तथा गान्धारी जाते हैं; प्रहरी पुनः स्टेज के आरपार घूमने लगते हैं]

प्रहरी १. मर्यादा !

प्रहरी २. अनास्था !

प्रहरी १. पुत्रशोक !

प्रहरी २. भविष्यत् !

प्रहरी १. ये सब
राजाओं के जीवन की शोभा हैं

प्रहरी २. वे जिनको ये सब प्रभु कहते हैं।
इस सब को अपने ही ज़िम्मे ले लेते हैं।

प्रहरी १. पर यह जो हम दोनों का जीवन
सूने गलियारे में बीत गया

प्रहरी २. कौन इसे
अपने जिम्मे लेगा ?

प्रहरी १. हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया,
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी मर्यादा।

प्रहरी २. हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा,
क्योंकि नहीं थी अपनी कोई भी गहन आस्था।

प्रहरी १. हमने नहीं झेला शोक

प्रहरी २. जाना नहीं कोई दर्द

प्रहरी १. सूने गलियारे-सा सूना यह जीवन भी बीत गया।

प्रहरी २. क्योंकि हम दास थे

प्रहरी १. केवल वहन करते थे आज्ञाएँ हम अन्धे राजा की

प्रहरी २. नहीं था हमारा कोई अपना खुद का मत,
कोई अपना निर्णय

प्रहरी १. इसलिये सूने गलियारे में
निरुद्देश्य,
निरुद्देश्य,
चलते हम रहे सदा
दाएँ से बाएँ,
और बाएँ से दाएँ

प्रहरी २. मरने के बाद भी
यम के गलियारे में
चलते रहेंगे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ

[चलते-चलते विंग में चले जाते हैं। स्टेज पर अँधेरा]
धीरे-धीरे पटाक्षेप के साथ

कथा-गायन

आसन्न पराजय वाली इस नगरी में
सब नष्ट हुई पद्धतियाँ धीमे-धीमे
यह शाम पराजय की, भय की, संशय की
भर गए तिमिर से ये सूने गलियारे
जिनमें बूढ़ा झूठा भविष्य याचक-सा
है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे
अन्दर केवल दो बुझती लपटें बाक़ी
राजा के अन्धे दर्शन की बारीक़ी
या अन्धी आशा माता गान्धारी की
वह संजय जिसको यह वरदान मिला है
वह अमर रहेगा और तटस्थ रहेगा
जो दिव्य दृष्टि से सब देखो समझेगा
जो अन्धे राजा से सब सत्य कहेगा
जो मुक्त रहेगा ब्रह्मास्त्रों के भय से
जो मुक्त रहेगा उलझन से, संशय से
वह संजय भी
इस मोह-निशा से घिर कर
है भटक रहा
जाने किस कंटक-पथ पर।

—'अंधायुग' से

●

विजयदेवनारायण साही

[१९२४ ई०—]

अलविदा

तुम खुद हाथ में रेत लेकर
उस में चमकते चाँदी के ज़र्रे देखते रहे
तुम्हें किसी ने नहीं भरमाया
और उसमें तुमने देखीं
दीवारें टटोलती हताश भीड़ें
सुरंगों के पार जलती हुई स्वर्ण-लंकाएँ
गटर में छुरे फेंकते सियाह चेहरे
समुन्दर की तरह काँपती लड़कियाँ
दुर्घटनाएँ लिए जाती रेलगाड़ियाँ....

तुम्हें यह भी ख़याल न रहा
कि कितना समय गुजर गया है
जो लोग तुम्हारे साथ यहाँ तक आये थे
वे बार-बार तुम्हें पुकार कर
चले गये
क्योंकि उनकी अपनी ज़िम्मेदारियाँ थीं
और शाम हो जाने के बाद
वे इस बदनसीब इमारत में रुकने के लिए
तैयार नहीं थे।

रात होते ही
खिड़की के पार से

वह हसीन चेहरा झांकेगा
जिसके बारे में तुम सुन चुके हो
तब उस परिस्थिति का मुक़ाबला
तुम अपने भीतर की किन ताक़तों के सहारे करोगे
यह तुम्हें उसी समय मालूम होगा,
मैं इसमें तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकूँगा
मैं ज्यादा से ज्यादा इतना बता सकता हूँ
कि या तो यह होगा
कि सुबह आकर
मुझे तुम्हारा नाम
उन लोगो की फेहरिस्त में लिखना होगा
जिनके वापस आने की कोई उम्मीद नहीं
या फिर....

या फिर क्या होगा, यह बताना
मेरे लिए कठिन है
क्योंकि आज तक इसके अतिरिक्त कुछ
घटित हुआ ही नहीं
सिर्फ पीढ़ी दर पीढ़ी चली आती हुई
एक अफ़वाह है
कि यातना भरी मृत्यु के अलावा भी
एक विकल्प है
उसकी क्या शकल है
और किस तरह वह घटित होगा
इसकी कोई साफ़ तसवीर
अफ़वाह में शामिल नहीं है।

यों यह मृत्यु यातना भरी है
यह भी मैं अन्दाज से कहता हूँ

क्योंकि मैंने आज तक उस क्षण को देखा नहीं
जब हसीन चेहरे
और भटके हुए मुसाफ़िर का साक्षात्कार होता है
हो सकता है
कि वास्तविक अनुभूति कुछ और हो
क्योंकि ऐसो रातों में
देर तक मैंने
अट्टहास और संगीत सुने हैं
क़रीब तीसरे पहर जाकर
भयानक चीख सुनाई पड़तो है :

इस लिए यह कहना
कि इसमें सब कुछ यातना हो है, कठिन है
हो सकता है इसमें सुख भी हो
या सौन्दर्य तेज़ प्रकाश ही
आँखों पर छा जाता हो
क्योंकि इतना मैं ने जरूर देखा है
कि सुबह सब कुछ ज्यों का त्यों हो जाने के बाद
यह सारा वातावरण
बेहद खूबसूरत हो जाता है
जैसे दुर्घटना को पचा लेने के वाद
जंगल खूबसूरत हो जाता है।

मुझे सख्त ताज्जुब होता है
कि इस थोड़े समय के साथ के कारण
लोग तीसरे पहर
मेरा नाम लेकर क्यों पुकारते हैं
क्या आखिरी आदमी
इतना गहरा सहारा दे कर विदा होता है ?

मैं तुमसे बता चुका हूँ
कि मैं चाहूँ भी
तो तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकता
इसलिए अगर तुम मंजूर करो
तो सिर्फ इतना कहना चाहूँगा
कि मेरा नाम लेकर न पुकारना।

सुनो,
बाहर बाग़ से
हल्की सुरीली आवाज आ रही है
जैसे कोई बाँसुरी का आरम्भ कर रहा हो
यही वह वक्त है
जब यहाँ से जाता हुआ मैं
फ़रिश्ते की तरह दिखाई देता हूँ
अक्सर लोगों ने मुझसे इस वक्त कहा है
कि मैं लालटेन ऊँची कर दूँ
ताकि वे मेरा चेहरा अच्छी तरह देख सकें
तुम चाहो तो
मैं तुम्हारे लिए भी यही कर सकता हूँ
मैं नहीं जानता कि मेरा चेहरा
तुम्हें किन सुनसान समुद्र तटों
या अँधेरी गुफाओं
या शान्त डरावने शिखरों की याद दिलाता है
लेकिन सच यह है
कि मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है
जिसे मैं तुम्हें दे जाऊँ
मेरे जाते ही
यहाँ जहाँ मैं खड़ा हूँ

तुम्हें एक खालीपन का एहसास होगा
जिसे तुम हाथ बढ़ाकर
छूने की कोशिश करोगे।

शायद इस रेत को फिर
अंजलि में उठा कर देखने से काम चल जाय
बशर्ते कि तुम इस तरह् रात काट सको
इससे तुम अपनी आँखों को
बाहर देखने से रोक सकोगे
लेकिन कानों का क्या करोगे
उनमें तो यह दिलकश रागिनी
और पास, और पास आती हुई गूँजेगी
फिर तुम अपने को कैसे रोकोगे ?

या शायद तन कर खड़े होने से काम चले
वह नहीं जो भविष्य के नाम पर
चुनौतियाँ देने से उपजता है
बल्कि वह जो आखिरी निर्णय के बाद सहसा
बिलकुल अकिंचन हो जाने से
उत्पन्न होता है,
तब शायद तुम्हारी आँखें
न सिर्फ़ शीशे के पार
बल्कि शीशे के पार दिखती हुई छवि के भी आरपार
देखने लगें
तब तुम देखोगे कि यहाँ से वहाँ तक
अटूट अन्धेरा है
जो माँद में मरते हुए जानवर की तरह
साँस लेता है।

मगर मैं यह सब
सिर्फ़ अनुमान के भरोसे कह रहा हूँ
क्योंकि मेरा अनुभव बहुत सीमित है
और मेरे लिए वे सारे रास्ते बन्द क़र दिये गये हैं
जिनसे होकर
चमकता हुआ जोखम प्रवेश करता है
और खून की आख़िरी बूँद तक को
आत्मा में बदल डालने की माँग करता है
सच तो यह है
कि इस सारे वातावरण की तरह
मैं भी सिर्फ़ इन्तज़ार कर रहा हूँ
उस विकल्प का
जिसकी अफ़वाह
रात की हवा की तरह
समय के एक छोर से दूसरे छोर तक
मँडराती हुई सुनाई पड़ती है।

आवाज़ आ रही है।
सुबह शायद एक नये घटनाक्रम का आरम्भ होगा
हो सकता है तब मैं न रहूँ
शायद मेरा न रहना भी
उस घटनाक्रम की ज़रूरी कड़ी हो
क्योंकि उस अप्रत्याशित को
न मैं जानता हूँ, न तुम
न रेत में चमकती हुई तसवीरें
न ये पत्थर, न वनस्पतियाँ
जो इन्तज़ार कर रही हैं
मगर मुझे कोई ग़म न होगा

क्योंकि मुझे जिन शर्तों से बाँध दिया गया है
वहाँ इन्तजार और अस्तित्व दो चीज़ें नहीं हैं
उसके खतम होने के बाद
मेरे लिए रह ही क्या जाएगा ?

सुरीली आवाज़ आ रही है
और पेड़ों की पत्तियाँ जगमगा रही हैं
मेरे जाने का वक्त हो गया है
क्योंकि अब तुम भी तार की तरह काँप रहे हो।
मैं नहीं जानता कि तुम्हारे भीतर
पैर के अँगूठे से लेकर गले तक
जो कुहराम बज रहा है
उसकी परिणति क्या है
मगर मैंने जो कुछ कहा है
उसे तुम भूल जाना
या यह कहना भी फ़िज़ूल है
क्योंकि उस चेहरे के खिड़की तक आते ही
तुम खुद ही सब कुछ भूल जाओगे
तुम्हारी आँखें पेड़ की पत्तियों की तरह जगमगाने लगेंगी
और तुम्हारे भीतर से उसका जन्म होगा
जो तुम्हारी ओर से
बिना तुम्हारी अनुमति के बोलता है
वही तुम्हारी रक्षा करता है
या फिर........

आवाज़ आ रही है।
तुम खुद हाथ में रेत लेकर
उसमें चमकते चाँदी के ज़र्रे देखते रहे
तुम्हें किसी ने नहीं भरमाया......

—'मछलीघर' से

मछली घर

मैं तुम्हें निमंत्रित करता हूँ
कि मेरे साथ इस कल्पित खिड़की तक आओ
और ठंड़े काँच की इस दीवार को
होठों से छुओ
यह स्पर्श तुम्हें परिशोधित कर देगा
ऊँचे शिखर की हवा की तरह।

खिड़की के पार
तुम्हें अपनी ओर ताकती हुई
दो आसमान सरीखी आँखें दिखेंगी
और जैसे-जैसे तुम
नीचे से ऊपर टटोलते हुए
दीवार के सहारे उठोगे
वे आँखें तुम्हारे साथ उठेंगी !

अब तुम वापस चले जाओ
और नीची निगाहों से
इस बन्द कमरे में खिले हुए
नाजुक फूलों, सफ़ेद सीपियों और सदाबहार पत्तियों के बारे में
विचारते रहो :
कोई आतुरता नहीं है
क्योंकि निगाह उठाने पर
उस पार वे दोनों आँखें तुम्हें बराबर दीखेंगी
निर्निमेष…
और तुम जब चाहोगे
धीरे-धीरे इस ठण्डे काँच की दीवार के सहारे
तृषाहीन आकर टिक जाओगे
परिशोधित।

—'मछलीघर' से

कुँवर नारायण

[१९२७ ई०—]

ये पंक्तियाँ मेरे निकट

ये पंक्तियाँ मेरे निकट आयीं नहीं,
मैं ही गया उनके निकट
उन को मनाने,
ढीठ, उच्छृङ्खल अबाध्य इकाइयों को
पास लाने :

कुछ दूर उड़ते बादलों की बेसँवारी रेख,
या खोते निकलते, डूबते, तिरते
गगन में पक्षियों की पाँत लहराती :
अमा से छलछलाती रूप-मदिरा देख
सरिता की सतह पर नाचती लहरें,
बिखेरे फूल अल्हड़ वनश्री गाती…

…कभी भी पास मेरे नहीं आए :
मैं गया उन के निकट उन को बुलाने,
गैर को अपना बनाने :
क्योंकि मुझ में पिण्डवासी
है कहीं कोई अकेली-सी उदासी
जो कि ऐहिक सिलसिलों से दूर
कुछ सम्बन्ध रखती उन परायी पंक्तियों से !
और जिस की गाँठ भर मैं बाँधता हूँ
किसी विधि से
विविध छन्दों के कलावों से

—'तीसरा सप्तक' से

तुम्हें पाने की अदम्य आकांक्षा

तुम्हें पाने की अदम्य आकांक्षा
देह की बन्दी है।
तुम्हें देह तक लाने की इच्छा तो
शव-सी गन्दी है।

तुम्हारे रूप की समृद्धि के प्रहरी
अकिंचन शब्द, केवल दास हैं :
एक परायी सम्पत्ति की तिजोरी के
सिर्फ़ आसपास हैं।

अ-व्यथित प्यार के सन्तोष तक उठ सकें,
चाहें, तुमें शक्ति कहाँ ?

जिस तरह मौक़े की माँग हो :
और मैं दे दिया जाऊँगा।

इस विराट नगर को चारों ओर से घेरे हुए
बड़े बड़े खुलेपन हैं, अपने में पलटे खाते बदलते शाम के रंग
और आसमान की असली शकल।
रात में वह ज्यादा गहरा नीला है और चाँद
कुछ ज्यादा चाँद के रंग का
पत्तियाँ गाढ़ी और चौड़ी और बड़े वृक्षों में एक नयी खुशबूवाले
गुच्छों में सफेद फूल

अन्दर, लोग;

जो एक बार जन्म ले कर भाई बहन माँ बच्चे बन चुके हैं
प्यार ने जिन्हें गला कर उनके अपने साँचों में हमेशा के लिए
ढाल दिया है

जिसका स्वर सदियों की
दूरी से आता है।
लगता है यह सब भूल जाना है :
एक कहानी—
जो सुलाने का बहाना है।

तुम और तुम्हारा प्यार, एक तमाशा
जो मेरे बाद न होगा।
और जिन्दगी, एक टूटा हुआ ख्वाब
जो मुझे याद न होगा।

बिखेरे फूल अल्हड़ वनश्री ने

···कभी-भी पास मेरे नहीं आए :
मैं गया उन के निकट उन को बुलाने,
गैर को अपना बनाने :
क्योंकि मुझ में पिण्डवासी
है कहीं कोई अकेली-सी उदासी
जो कि ऐहिक सिलसिलों से दूर
कुछ सम्बन्ध रखती उन परायी पंक्तियों से !
और जिस की गाँठ भर मैं बाँधता हूँ
किसी विधि से
विविध छन्दों के कलावों से

—'तीसरा सप्तक' से

रघुवीर सहाय

[१९२९ ई०—]

दे दिया जाता हूँ

मुझे नहीं मालूम था कि मेरी युवावस्था के दिनों में भी
यानी आज भी
दृश्यालेख इतना सुन्दर हो सकता है :
शाम को सूरज डूबेगा
दूर मकानों की क़तार सुनहरी बुन्दियों की झालर बन जाएगी
और आकाश रंगारंग होकर हवाई अड्डे के विस्तार पर उतर आयेगा
एक खुले मैदान में हवा फ़िर से मुझे गढ़ देगी
जिस तरह मौक़े की माँग हो :
और मैं दे दिया जाऊँगा ।

इस विराट नगर को चारों ओर से घेरे हुए
बड़े बड़े खुलेपन हैं, अपने में पलटे खाते बदलते शाम के रंग
और आसमान की असली शकल ।
रात में वह ज्यादा गहरा नीला है और चाँद
कुछ ज्यादा चाँद के रंग का
पत्तियाँ गाढ़ी और चौड़ी और बड़े वृक्षों में एक नयी खुशबूवाले
गुच्छों में सफेद फूल

अन्दर, लोग;
जो एक बार जन्म ले कर भाई बहन माँ बच्चे बन चुके हैं
प्यार ने जिन्हें गला कर उनके अपने साँचों में हमेशा के लिए
ढाल दिया है

और जीवन के उस अनिवार्य अनुभव की याद
उनकी जैसी धातु हो वैसी आवाज़ उनमें बजा जाती है

सुनो सुनो, बातों का शोर;
शोर के बीच एक गूँज है जिसे सब दूसरों से छिपाते हैं
—कितनो नंगी और कितनी बेलौस !—
मगर आवाज़ जीवन का धर्म है इसलिए मढ़ी हुई करतालें बजाते हैं

लेकिन मैं,

जो कि सिर्फ देखता हूँ, तरस नहीं खाता, न चुमकारता, न क्या हुआ क्या हुआ करता हूँ।

सुनता हूँ, और दे दिया जाता हूँ।
देखो, देखो, अँधेरा है
और अँधेरे में एक खुशबू है किसी फूल की
रोशनी में जो सूख जाती है।

एक मैदान है जहाँ हम तुम और ये लोग सब लाचार हैं मैदान के मैदान होने के आगे।

और खुला आसमान है जिसके नीचे हवा मुझे गढ़ देती है

इस तरह कि एक आलोक की धारा है जो बाँहों में लपेट कर छोड़

देती है और गन्धाते, मुँह चुराते, टुच्ची-सी आकांक्षाएँ बार बार ज़बान पर लाते लोगों में

कहाँ से मेरे लिए दरवाजे खुल जाते हैं जहाँ ईश्वर
और सादा भोजन है और
मेरे पिता की स्पष्ट युवावस्था।
सिर्फ उनसे मैं ज्यादा दूर दूर तक हूँ
कई देशों के अधभूखे बच्चे
और बाँझ औरतें, मेरे लिए
संगीत की ऊँचाइयों, नीचाइयों में गमक जाते हैं

और ज़िन्दगी के अन्तिम दिनों में काम करते हुए बाप
काँपती साइकिलों पर
भीड़ में से रास्ता निकाल कर ले जाते हैं
तब मेरी देखती हुई आँखें प्रार्थना करती हैं
और जब वापस आती हैं अपने शरीर में, तब वह दिया जा चुका
होता है।
किसी शाप के वश बराबर बजते स्थानिक पसन्द के परेशान संगीत में से
एकाएक छन जाता है मेरा अकेलापन
आवाज़ों को मूर्खों के साथ छोड़ता हुआ
और एक गूँज रह जाती है शोर के बीच जिसे सब दूसरों से छिपाते हैं
नंगी और बेलौस,
और उसे मैं दे दिया जाता हूँ।

—'सीढ़ियों पर धूप में' से

●

आत्महत्या के विरुद्ध

समय आ गया है
जब तब कहता है सम्पादकीय
हर बार दस बरस पहले मैं कह चुका होता हूँ
कि समय आ गया है

एक ग़रीबो ऊबी पीली रोशनी बीबी
रोशनी धुन्ध जाला यमन हरमुनियम अदृश्य
डब्बाबन्द शोर
गातों गला भींच आकाशवाणी अन्त में टड़ंग

अकादमी की महापरिषद् की अनन्त बैठक
अदबदा कर निश्चित कर देती है जब कुछ और नहीं पाती

ता ऊब का स्तर
एक सीली उँगली का निशान डाल दस्तख़त कर
तले हुए नाश्ते की तेलीस मेज़ पर
नगरनिगम ने त्यौहार जो मनाया तो जनसभा की
मन्थर मटकता मंत्री मुसद्दीलाल महन्त मंच पर
चढ़ा
छाती पर जनता की
वसन्ती रंग जानते थे न पंसारी न मुसद्दीलाल
दोनों ने राय दी
कन्धे से कन्धा भिड़ा ले चलो
पालकी

कल से ज़्यादा लोग पास मँडराते हैं
ज़रूरत से ज़्यादा आसपास ज़रूरत से ज़्यादा नीरोग
शक से कि व्यर्थ है जो मैं कर रहा हूँ
क्योंकि जो कह रहा हूँ उसमें अर्थ है
कल मैंने उसे देखा लाख चेहरों में एक वह चेहरा
कुढ़ता हुआ और उलझा हुआ वह, उदास, कितना बोदा
वही था नाटक का मुख्य पात्र
पर उसकी ठस पीठ पर मैं हाथ रख न सका
वह बहुत चिकनी थी

लौट आओ फ़िर उसी खाते पीते स्वर्ग में
पिटे हुए नेता, पिटे अनुचर बुलाते हैं
मार फड़फड़ाते हैं पंख साल दो साल गले बँधी घंटियाँ
पढ़ीलिखी गरदनें बजाती हैं फिर उड़ जाता है विचार
हम रह जाते हैं अधेड़
कुछ होगा
कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा

न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अन्दर
एक कायर टूटेगा, टूट
मेरे मन टूट एक बार सही तरह
अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ
मत डूब सिर्फ़ टूट जैसे कि परसों के बाद
वह आया बैठ गया आदतन एक बहस छेड़ कर
गया एकाएक बाहर जोरों से एक नकली दरवाज़ा
भेड़ कर
दर्द, दर्द मैंने कहा क्या अब नहीं होगा
हर दिन मनुष्य से एक दर्ज़ा नीचे रहने का दर्द
गरजा मुस्टंडा विचारक समय आ गया है
कि रामलाल कुचला हुआ पाँव जो घसीट कर
चलता है; अर्थहीन हो जाए

छुओ,
मेरे बच्चे का मुँह
गाल नहीं जैसा विज्ञापन में छपा
ओंठ नहीं
मुँह
कुछ पता चला जान का शोर डर कोई लगा
नहीं—बोला मेरा भाई, मुझे पाँव तले
रौंद कर अँगरेजी

कितना आसान है पागल हो जाना
और भी जब उस पर इनाम मिलता है
नक़ली दरवाज़े पीटते हैं जवान हाथों को
काम सर को आराम मिलता है : दूर
राजधानी से कोई क़स्बा
दोपहर बाद छटपटाता है

एक फटा कोट एक हिलती चौकी
एक लालटेन
दोनों, बाप मिस्तरी और बीस बरस का नरेन
दोनों पहले से जानते हैं पेंच की मरी हुई चूड़ियाँ
नेहरू युग के औज़ारों को मुसद्दी
लाल की सबसे बड़ी देन

अस्पताल में मरीज़ छोड़ कर आ नहीं सकता
तीमारदार
दूसरे दिन कौन बताएगा कि वह कहाँ गया
निष्कासित होते हुए मैंने उसे देखा था
जयपुर-अधिवेशन जब समेटा जा रहा था
जो मजूर लगे हुए थे कुर्सी ढोने में
उन्होंने देखा एक कोने में बैठा है
अजय अपमानित
वह उसे छोड़ गये
कुर्सी को
सन्नाटा छा गया

कितना आसान है नाम लिखा लेना
मरते मनुष्य के बारे में क्या करूँ
क्या करूँ मरते मनुष्य का
अंतरंग परिषद् से पूछ कर तय करना कितना
आसान है कितनी दिलचस्प हैं नेहरू की
आशंसा पाटिल की भर्त्सना की कथा
कितनी घुटन के अन्दर घुटने के
अन्दर घुटने से कितनी सहज मुक्ति
कितना आसान है रख लेना अपने पास अपना वोट
क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी अयोग्य है अत्याचारी

हत्या किये जाए जब तक कि स्वर्णधूलि
स्वर्णशिखर से आ कर आत्मा के स्वर्णखण्ड
किये जाए

गोल शब्दकोश में अमोल बोल तुतलाते
भीमकाय भाषाविद हाँफते डकारते हाँफते
अँगरेज़ी की अवध्य गाय

घण्टा घनघनाते पुजारी जयजयकार
सरकार से क़रार जारी हज़ार शब्द रोज़
कैद

रोज़ रोज़ एक और दर्द एक क्रोध एक बोध
और नापेद

कल पैदा करना होगा भूखी पीढ़ी को
आज जो अनाज पेट भरता है

लो हम चले रखे हैं उरवरक सम्बन्धी
कुछ विचार

भुन्न से बोले विनोबा से जैनेन्द्र
दिल्ली में बहुत बड़ी लपसी
पकायी गयी युद्ध से बदहवास
जनता के लिए लड़ो या न लड़ो
भारत पाकिस्तान अलग-अलग करो
फिर मरो कढ़िल कर
भूल जाओ
राजनीति

अध्यापक, याद करो किसके आदमी हो तुम
याद करो विद्यार्थी, तुम्हें आदमी से
एक दर्जा नीचे
किसका आदमी बनना है—दर्द ?

दर्द, खैराती अस्पताल में डाक्टर ने कहा
वह मेरा काम नहीं
वह मुसद्दी का है
वही भेजता है मुझे लिख कर इसे अच्छा करो
जो तुम बीमार हो तुमने उसे खुश नहीं किया होगा
अब तुम बीमार हो तो उसे खुश करो
कुछ करो
उसने कहा लोहिया से लोहिया ने कहा
कुछ करो
खुश हुआ वह चला गया अस्पताल में भीड़
भौचक भीड़ धाँय-धाँय
सौ हज़ार लाख दर्द आठ दस क्रोध
तीन चार बन्द बाज़ार भय भगदड़-गर्द
लाल
छाँहधूप छाँह, नहीं—घोड़े बन्दूक़
धुआँ खून खत्म चीख़
कर हम जानते नहीं
हम क्या बनाते हैं
जब हम दफ़नाते हैं
एक हताश लड़के की लाश बार-बार एक बेबसी
थोड़ी-सी मिटती है
फिर करने लगती है भाँय-भाँय
समय जो गया है उसके सन्नाटे में राष्ट्रपति
प्रकटे देते हुए सीख
समाचारपत्र में छपी
दुधमुँही बच्ची
खाती हुई भीख
खिसियाते कुलपति

मुसद्दीलाल
घिघियाते उपकुलपति
एक शब्द कहीं नहीं कि वह लड़का कौन था
क्या उनके बहनें थीं
क्या उसने रखे थे टीन के बक्से में अपने अजूबे वह कौन
कौन से पकवान
खाता था
एक शब्द कहीं नहीं एक वह शब्द जो वह खोज
रहा था जब वह मारा गया।
सन्नाटा छा गया
चिट्ठी लिखते-लिखते छुटकी ने पूछा
क्या दो बार लिख सकते हैं कि याद
आती है
एक बार मामी की एक बार मामा की ?
नहीं, दोनों बार मामी की
लिख सकती हो ज़रूर बेटी मैंने कहा
समय आ गया है
दस बरस बाद फिर पदारूढ़ होते ही
नेतराम पदमुक्त होते ही न्यायाधीश
कहता है समय आ गया है मौक़ा अच्छा देख कर प्रधानमन्त्री
सुन्दर नौजवानों से कहता है गाता-बजाता
हारा हुआ दलपति
समय जो गया है
मेरे तलुवे से छन कर पाताल में
वह जानता हूँ मैं।

•

केदारनाथ सिंह

[१९३४ ई०—]

अनागत

इस अनागत को करें क्या ?—
जो कि अक्सर बिना सोचे, बिना जाने
सड़क पर चलते अचानक दीख जाता है !

किताबों में घूमता है;
रात की वीरान गलियों-पार गाता है !
राह के हर मोड़ से हो कर गुजर जाता;
दिन-ढले सूने घरों में लौट आता है !

बाँसुरी को छेड़ता है;
खिड़कियों के बन्द शीशे तोड़ जाता है !
किवाड़ों पर लिखे नामों को मिटा देता;
बिस्तरों पर छाप अपनी छोड़ जाता है !
इस अनागत को करें क्या—
जो न आता है, न जाता है ।

आज-कल ठहरा नहीं जाता कहीं भी;
हर घड़ी, हर वक्त ये खटका लगा रहता है !
कौन जाने कब, कहाँ वह दीख जाये !
हर नवागन्तुक उसी की तरह लगता है !
फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीखता हो;
इस तरह वह दरपनों में कौंध जाता है !
हाथ उस के

हाथ में आ कर बिछल जाते
स्पर्श उसका धमनियों को रौंद जाता है !
पंख
उसके सुनहली परछाइयों में खो गये हैं।
पाँव
उसके कुहासे में छटपटाते हैं !

इस अनागत का करें क्या हम
कि जिसकी सीटियों की ओर
बरबस खिंचे जाते हैं।

—'तीसरा सप्तक' से

●

फ़र्क नहीं पड़ता

हर बार लौट कर
जब अंदर प्रवेश करता हूँ,
मेरा घर चौंक कर कहता है, 'बधाई' !

ईश्वर
यह कैसा चमत्कार है
कि मैं कहीं भी जाऊँ
फिर लौट आता हूँ !

सड़कों पर परिचय-पत्र माँगा नहीं जाता,
न शीशे में सबूत की ज़रूरत होती है।
और कितनी सुविधा है
कि हम घर में हों या ट्रेन में,
हर जिज्ञासा—
एक रेलवे टाइमटेबुल से शांत हो जाती है !

आसमान मुझे हर मोड़ पर
थोड़ा-सा लपेट कर बाक़ी छोड़ देता है
अगला क़दम उठाने, या बैठ जाने के लिए।
और यह जगह है जहाँ पहुँच कर
पत्थरों की चीख़ साफ़ सुनी जा सकती है!

पर सच तो यह है
कि यहाँ या कहीं भी फ़र्क़ नहीं पड़ता।
तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'
वहाँ लिख दो 'सड़क'
फ़र्क़ नहीं पड़ता।

मेरे युग का मुहावरा है:
'फ़र्क़ नहीं पड़ता।'

अक़सर महसूस होता है
कि बग़ल में बैठे हुए दोस्तों के चेहरे
और अफ़्रीका की धुंधली नदियों के छोर
एक हो गये हैं;

और भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं,
बल्कि दाँतों के बीच की जगहों में सटी हुई है!

मैं बहस शुरू तो करूँ
पर चीज़ें एक ऐसे दौर से हो कर गुज़र रही हैं
कि सामने की मेज़ को सीधे 'मेज़' कहना
उसे वहाँ से उठा कर
अज्ञात अपराधियों के बीच में रख देना है!

और यह समय है
जब रक्त की दिशा
शरीर से कट कर अलग हो जाती है ।

और यह समय है
जब मेरे जूते के अंदर की एक नन्हीं-सी कील
तारों को गड़ने लगती है ।

श्रीकान्त वर्मा

[१९३१ ई०—]

माया-दर्पण

देर से उठकर
छत पर सर धोती
खड़ी हुई है
देखते-ही-देखते
बड़ी हुई है
मेरी प्रतिभा
लड़ते झगड़ते
मैं आ पहुँचा हूँ
उखड़ते-उखड़ते
भी
मैंने
रोप ही दिये पैर
बैर
मुझे लेना था

पता नहीं
कब क्या लिया था
क्या देना था !
अपना एकमात्र इस्तेमाल यही किया था—
एक सुई की तरह
अपने को
अपने परिवार से निकालकर

तुम्हारे जीर्ण जीवन को सिया था।
(दोनों हाथों में सँभाल
अपने होठों से
छुलाकर)
बहते हुए पानी में झुलाकर
अपने पाँव
मैं अनुभव कर रहा हूँ सब कुछ
बस छूकर
चला जाता है
छला जाता है
आकाश भी
सूर्य से
जो दूसरे दिन
आता नहीं है
कोई और सूर्य भेज देता है।
विजेता है
कौन
और
किसकी पराजय है—
सारा संसार अपने कामों में
फँसाए अपनी उँगलियाँ
उधेड़बुन करता है।
डरता है
मुझसे
मेरा पड़ोस।
मैं अपनी करतूतों का दरोग़ा हूँ।
नहीं, एक रोजनामचा हूँ
मुझमें मेरे अपराध

हूं-बंहूं कविताओं-से
दर्ज हैं
मर्ज हैं
जितने
उनसे ज्यादा इलाज हैं।
मेरे पास हैं कुछ कुत्ता-दिनों की
छायाएँ
और बिल्ली-रातों के
अन्दाज हैं।
मैं इन दिनों और रातों का
क्या करूँ ?
मैं अपने दिनों और रातों का
क्या करूँ ?
मेरे लिए तुमसे भी बड़ा
यह सवाल है।
यह एक चाल है;
मैं हरेक के साथ
शतरंज खेल रहा हूँ
मैं अपने ऊलजलूल
एकांत में
सारी पृथ्वी को बेल रहा हूँ।
मैं हरेक नदी के साथ
सो रहा हूँ
मैं हरेक पहाड़
ढो रहा हूँ।
मैं सुखी
हो रहा हूँ
मैं दुखी

हो रहा हूँ
मैं सुखी-दुखी होकर
दुखी-सुखी
हो रहा हूँ।
मैं न जाने किस कन्दरा में
जाकर चिल्लाता हूँ : मैं
हो रहा हूँ। मैं
हो रहा हूँ ऽऽ
अनुगूंज नहीं जाती।
लपलपाती
मेरे पीछे
चली आ रही है।
चली आये
मुझे अभी कई लड़कियों से
करना है प्रेम
मुझे अभी कई कुण्डों में
करना है स्नान
अभी कई तहखानों की
करनी है सैर
मेरा सारा शरीर सूख चुका
मगर साबित हैं
पैर !
मैं अपना अन्धकार, अपना सारा अन्धकार
गन्दे कपड़ों की
एक गठरी की तरह
फेंक सकता हूँ।
मैं अपनी मार खायी हुई
पीठ

सेंक सकता हूँ
धूप में
बेटियाँ और बहुएँ
सूप में
अपनी-अपनी
आयु के
दाने
बिन
रही
हैं।
सारे संसार की सभ्यताएँ दिन गिन रही हैं।
क्या मैं भी दिन गिनूँ ?
अपने निरानन्द में
रेंक और भाग और लीद रहे गधे से
मैं पूछ कर
आगे बढ़ जाता हूँ—
मगर खबरदार ! मुझे कवि मत कहो।
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ
गाली
फिर उसे बुदबुदाता हूँ।
मैं कविताएँ बकता नहीं हूँ !
मैं थकता नहीं हूँ
कोसते।
सरदी में अपनी सन्तान को
केवल अपनी
हिम्मत की रजाई में लपेटकर
पोसते

गरीबों के मुहल्ले से निकल कर
मैं
एक बन्द नगर के दरवाज़े पर
खड़ा हूँ।
मैं कई साल से
पता नहीं अपनी या किसकी
शर्म में
गड़ा हूँ।
तुमने मेरी शर्म नहीं देखी।
मैं मात कर
सकता हूँ
महिलाओं को।
मैं जानता हूँ
सारी दुनिया के
बनबिलावों को
हमेशा से जो बैठे हैं
ताक में
काफी दिनों से मैं
अनुभव करता हूँ तकलीफ़
अपनी
नाक में।
मुझे पैदा होना था अमीर घराने में।
अमीर घराने में
पैदा होने की यह आकांक्षा
साथ-साथ
बड़ी होती है।
हरेक मोड़ पर

प्रेमिका की तरह
मृत्यु
खड़ी होती है।

शरीरान्त के पहले मैं सब कुछ निचोड़ कर उसको दे जाऊँगा जो भी मुझे मिलेगा। मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता; मेरे न होने से कुछ भी नहीं हिलेगा। मेरे पास कुरसी भी नहीं जो खाली हो। मनुष्य वकील हो, नेता हो, सन्त हो, मवाली हो—किसी के न होने से कुछ भी नहीं होता।

नाटक की समाप्ति पर
आँसू मत बहाओ।
रेल की खिड़की से
हाथ मत हिलाओ।

—'माया-दर्पण' से

कवि तथा कविताएँ—परिचय और मूल्यांकन

अज्ञेय

जन्म १९११ ई०। बचपन लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता; शिक्षा मद्रास और लाहौर में पायी। किन्तु साहित्य के साथ बमबाज़ी और विषैले रसायनों का भी अध्ययन करते रहे। क्रान्ति संघर्ष में जेल और नज़रबन्दी के अनुभव प्राप्त किये। 'सैनिक' और 'विशाल भारत' में रहे। ऑल इण्डिया रेडियो में भी। 'प्रतीक' का सम्पादन। एकाधिक बार विदेश में प्रवास—इस समय भी अमेरिका में। बीच में अंग्रेज़ी में त्रैमासिक 'वाक्' का और लम्बे समय तक 'दिनमान' समाचार-विचार-साप्ताहिक का सम्पादन।

प्रकाशित कृतियाँ : 'भग्नदूत', 'चिन्ता', 'इत्यलम्', 'हरी, घास पर क्षण भर', 'इन्द्र-धनु रौंदे हुए ये', 'बावरा अहेरी', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आंगन के पार द्वार', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'सागर-मुद्रा' (कविताओं के संग्रह); 'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी' (उपन्यास); 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद' (निबंध-साहित्यिक डायरी); 'एक बूंद सहसा उछली' (यात्रा-प्रसंग) 'जयदोल', 'कोठरी की बात', 'शरणार्थी', 'ये तेरे प्रतिरूप', (कहानी-संग्रह) 'उत्तरप्रियदर्शी' (नाटक)।

तारसप्तक, दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक के सम्पादक के रूप में और प्रकारान्तर से 'प्रयोगवाद' के प्रवर्त्तक कवि के रूप में विख्यात।

'मानवीय व्यक्तित्व की समस्या' अज्ञेय की कविताओं के केन्द्र में रही है। उसे ही अधिक सम्पृक्त एवं सर्जनात्मक रूप में अभिव्यक्त करने की चेष्टा अज्ञेय ने सबसे अधिक की है। अज्ञेय इलियट के 'निर्वैयक्तिकता'—सम्बन्धी काव्य-सिद्धान्त से प्रभावित हैं यद्यपि उन्होंने उसे अपना दृष्टिकोण प्रदान किया है। अनुभूति की गहनता के प्रति अज्ञेय का झुकाव उन्हें काव्य-कला की नयी दिशा की खोज में प्रवृत्त करता है। अज्ञेय की श्रेष्ठ कृतियों में वह काव्यगुण लक्ष्य किया जा सकता है जिसे "शब्दों और अर्थों की परस्पर-स्पर्धी चारुता" (द्रष्टव्य : 'प्रतिक्रियाएँ' : डॉ० देवराज) कहा गया है। अज्ञेय के द्वारा प्रयुक्त शब्द "घने रूप में सांस्कृतिक अनुषंगों से संपृक्त" रहते हैं। दूसरी ओर उनकी काव्य-संवेदना निरन्तर एक वैज्ञानिक दृष्टि से जुड़ी रहती है।

● कितनी शांति ! कितनी शांति ! कविता कवि के यायावर स्वभाव को खोलती है जो कहीं रुकना नहीं चाहता—उसे संख्यातीत रूपों में याद करता है, जिसका संवाद

सदा प्राणों में सुनता आया है। यह नहीं, कि वह इस कठोर वास्तविकता से अपरिचित है—हरहराते ज्वार-सा बढ़कर एक हाहाकार आगे आता है और 'अकिंचन कर्म-श्रम-व्यापार' को लील लेता है। इससे एक प्रकार की कुण्ठा भी उपजती है—'अहं! अन्तर्गुहावासी! स्वरति! क्या मैं चीन्हता, कोई न दूजी राह'! यह आत्मरति कहीं नहीं ले जाती यदि कवि में आत्मदान की यह चेतना न होती—'तुम्हें धारे हृदय में, मैं खुले हाथों सदा दूँगा बाह्य का जो देय'! कवि में परिताप की जलन है—'अतृप्ति की धुंध-मात्र नहीं है'।

● बावरा अहेरी : यहाँ 'बावरा अहेरी' 'सूर्य' का प्रतीक है—आरम्भिक कविताओं में अज्ञेय ने जहाँ क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ इधर की कविताओं में हल्के-फुल्के, व्यंजक, कोमल शब्द-विन्यास की प्रवृत्ति है—'कलस-तिसूल', 'लाल-लाल-कनियाँ', 'दुबकी कलौंस'—ऐसे ही शब्द-प्रयोग हैं। प्रकृति और यंत्र सभ्यता के द्वन्द्व को अज्ञेय अपने चित्रों के पारस्परिक तनाव से व्यंजित करते हैं—जहाँ 'पार्क के किनारे पुष्पिताग्र कर्णिकार की आलोक-खची तन्वि रूपरेखा' का संकेत है वहीं प्रसंगवश 'दूर कचरा जलाने-वाली कल की उद्दण्ड चिमनियों' की ओर संकेत भी है। कवि की कामना यही है कि बावरा अहेरी किरणों की तीखी नोक से खँडहर की शिरा-शिरा को भेद दे—कि आँजी हुई आँखें अधिक कृतज्ञता से उसी के प्रति उमड़ आएँ।

● जो कहा नहीं गया : अभिव्यक्ति से अधिक मौन की महत्ता और विवशता को व्यक्त करने वाली इस कविता में भाषा की सीमा व्यंजित है—सारे तात्कालिक संवेगों को हम अधीरतापूर्वक कह डालते हैं पर सबके बाद कुछ न कुछ शेष रह जाता है—विशाल सागर में पैठ न सकने की झिझक भाषा को अवरुद्ध करती है—आगे नहीं जाने देती—अर्थ जो शब्दातीत हैं, उन्हें व्यंजित करने के लिए नये-नये अनुभवों का जोखिम उठाना कवि की दृष्टि में एकमात्र रास्ता है।

● नदी के द्वीप : कवि के वैयक्तिक स्वभाव या द्वीप भाव को व्यंजित करने वाली इस कविता में प्रत्यक्ष ही कहा गया है कि—'किन्तु हम हैं द्वीप, हम धारा नहीं हैं।' 'हम वहेंगे तो रहेंगे नहीं'—यह मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का स्वभाव है जो भीड़ से बचता है क्योंकि भीड़ में उसे सुरक्षा नहीं दिखायी देती—और अकेलेपन को अभिशप्त नियति के रूप में स्वीकार कर लेता है। पर यहाँ भी कवि का नदी से, प्रवाह से कोई विरोध नहीं है—यह चेतना बची हुई है कि—'हम नदी के पुत्र हैं, बैठे नदी के क्रोड़ में, वह वृहद भूखण्ड से हमको मिलाती है'। धारा में 'पैर उखड़ने/ ढहने/ बह जाने का' भय तो है पर अन्ततः यह सहज विश्वास भी बचा रह गया है—'फिर छनेंगे हम, जमेंगे हम, कहीं फिर पैर टेकेंगे/ कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार'।

● यह दीप अकेला : अज्ञेय के लिए संगठित मानव व्यक्तित्व आस्था और सर्जनात्मकता का महत्वपूर्ण स्रोत रहा है। इस कविता में कवि का व्यक्तित्व पंक्ति के प्रति स्वतः

अर्पित है। 'यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित'—यह निष्ठा सर्जक और आस्तिक स्वभाव में ही पनप सकती है। 'यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुत, इसको भी शक्ति को दे दो'—आत्मदान, अद्वितीयता के विसर्जन की यह चेतनता कवि की आस्तिकता—जिसमें जीवन के प्रति आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि भी विद्यमान है—से ही उत्पन्न हुई है। यह कविता कवि की लोक-सम्पृक्ति का ही उदाहरण है।

शमशेरबहादुर सिंह

जन्म : देहरादून, ३ जनवरी, १९११, मध्यवर्ग के जाट परिवार में। शिक्षा : इलाहाबाद में। चित्रकला में रुचि। सन् १९३८-३९ में 'रूपाभ' से सम्बद्ध। फिर 'कहानी', 'नया साहित्य' आदि का सम्पादन।

कृतियाँ—कुछ कविताएँ, कुछ और कविताएँ, दोआब (लेखसंग्रह)।

श्री शमशेरबहादुर सिंह की खास कोशिश रही है कि वे हर चीज़ या भावना की अपनी भाषा को, जिसमें वह कलाकार से बातें करती है, सीख सकें। उनकी दृष्टि में कला का संघर्ष सामाजिक संघर्ष से अलग कोई चीज़ नहीं। जैसा विजयदेवनारायण साही ने संकेत किया है "तात्त्विक दृष्टि से शमशेर की काव्यानुभूति सौन्दर्य की ही अनुभूति है। शमशेर की प्रवृत्ति सदा ही 'वस्तुपरकता' को उसके शुद्ध या मार्मिक रूप में ग्रहण करने की रही है। वे 'वस्तुपरकता का आत्मपरकता में' और 'आत्मपरकता का वस्तुपरकता में' आविष्कार करने वाले कवि हैं, जिनकी काव्यानुभूति बिम्ब की नहीं, बिम्बलोक की है।" शमशेर कविता में अपनी भावनाओं की सच्चाई खोजते हैं और अनुभव करते हैं कि उस खोज में सच्चाई का अपना खास रूप भी मिलना चाहिये। यह दृष्टिकोण कि 'सभी ललित कलाएँ एक-दूसरे में समायी हुई हैं'—शमशेर के पूरे काव्य-शिल्पको—जिसमें यथातथ्यता, सूक्ष्मता, मितव्ययिता आदि का आदर्श उपस्थित है—और उनकी समग्र सौन्दर्यचेतना को प्रभावित करता है। शमशेर के सघन, ठोस और अपारदर्शी बिम्ब अतियथार्थवादी शिल्प के निकट जान पड़ते हैं।

● **बात बोलेगी** : शमशेर की कविता का आदर्श इस कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में व्यंजित है—'बात बोलेगी/हम नहीं/भेद खोलेगी/बात ही।' 'दैन्य दानव, काल-भीषण, क्रूर स्थिति, कंगाल, बुद्धि, घर मजूर', अकेले शब्दों से पूरे सन्दर्भ को ध्वनित करने की कोशिश करते हुए यथातथ्यता, मितव्ययिता आदि काव्यगुणों को वहन करने वाली जिस 'सख्त कविता' का आदर्श शमशेर ने उपस्थित किया है उसका विश्लेषण विजयदेवनारायण साही की इन पंक्तियों में है—"छायावादी कलाकृति मूलतः एक विस्फोट करता हुआ कलारूप है—जैसे केन्द्रीय अर्थ फूटकर चारों ओर क्रमशः विलीन होता हुआ बिखर रहा हो। तीसरे दशक की कलाकृति उसे एक लहर की तरह निर्मित करती है....। नयी कविता उस तरंग के रूप को एक 'स्ट्रक्चर' में बदल देती है। जैसे हीरे का क्रिस्टल

हो।" प्रस्तुत कविता की संरचना उस 'मानसिक अन्तर्ग्रंथन' को सामने लाती है जिसमें समूची कविता एक 'अविभाज्य ठोस बिम्ब' के रूप में प्रकाशित हो उठती है।

● एक पीली शाम—कविता में अभिव्यक्ति और संकोच का तनाव प्रत्यक्ष है। कवि एक संकेत के द्वारा, एक काव्यबिम्ब के द्वारा, दो स्थितियों या वस्तुओं के तनाव के द्वारा शाम का जो चित्र देना चाहता है—'एक पीली शाम/पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता' वह पूर्णता पाता है इस शून्य में—इस अन्तराल में—'अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू/ सान्ध्य तारक-सा/ अतल में'—यहाँ "अतल में गिरने के पहले संकोच का, अटकाव का एक झिलमिलाता अन्तराल है जिसमें आँसू अपनी जीवितता ग्रहण करता है। जन्म लेना अलग होना है। अनस्तित्व गर्भ से अतल की ओर जाना है; नितान्त पराया हो जाना है। लेकिन इस बिल्कुल निजी और बिल्कुल पराये के बीच एक और क्षण है—जहाँ आँसू निजी है भी और नहीं भी है; पराया है भी और नहीं भी है।"

● एक नीला आइना बेठोस—कविता बिम्बों के सृजन के प्रति एक खास दृष्टिकोण व्यंजित करती है—इस 'बेठोस नीले आइने' में कवि अपने को वैसा ही नहीं पाता, जैसा वस्तुतः वह है—न सर्वथा भिन्न रूप में ही अपने को देख पाता है—"न तो वह प्रतिच्छवि ही है, न छायाभास ही है—वह इन दोनों के बीच की स्थिति अर्थात् बिम्ब है। देखने की क्रिया ही बिम्ब देखना है।"

शमशेर की काव्यानुभूति वस्तुओं के मर्म में एक ही स्थिति को पकड़ती है—'रह गया सा एक सीधा बिम्ब चल रहा है/ जो शान्त इंगित-सा/ न जाने किधर।' शमशेर की बिम्बवादी प्रवृत्ति में सघनता प्रत्यक्ष है। यदि बिम्बविधान का मूलस्रोत चित्रकला है तो शमशेर की चित्रकला के प्रति विशिष्ट रुचि स्वाभाविक ही है।

नागार्जुन

जन्म : १९१० ई०। जीवन में संघर्षरत। यायावर वृत्ति के शिकार। व्यंग की खरी, तीव्र चेतना। कवि, कथाकार के रूप में विख्यात। लोकजीवन से सीधा लगाव—साहित्य सबके लिए हो—इसी संकल्प से प्रेरित।

कृतियाँ :		
	युगधारा	(कविता)
	प्रेत का बयान	,,
	सतरंगे पंखोंवाली	,,
	रतिनाथ की चाची	(उपन्यास)
	बाबा बटेसरनाथ	,,
	बलचनमा	,,
	नई पौद	,,
	उग्रतारा	,,

लोकचेतना और यथार्थानुभव से अनुप्राणित कवि के रूप में नागार्जुन ने तीखे व्यंग का माध्यम चुना है। उनका काव्य शिल्प 'बादल को घिरते देखा है' जैसी कविताओं में सधा हुआ है—शब्दों का चयन एक लय, एक प्रवाह की निर्मिति के उद्देश्य से ही किया गया है पर 'प्रेत का बयान' की कविताएँ अनगढ़ पर तीखे व्यंगशिल्प का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

● **बादल को घिरते देखा है :** कालिदास जैसे कवियों ने बादल के अधिसंख्य चित्रों में जो गहरी सौन्दर्याभिरुचि, कोमल सहृदयता, विशिष्ट रागात्मक संवेदना व्यक्त की है—नागार्जुन पहले उन्हीं कल्पना-चित्रों की पुनः प्रस्तुति करते हैं और अनुभव करते हैं कि न वह धनपति कुबेर रह गया, न उसकी अलका रह गयी -- कालिदास के 'व्योम प्रवाही गंगा-जल' का भी ढूँढ़ने पर ठिकाना नहीं मिलता। कविता का मोड़ यहीं है—'जाने दो/ वह कवि कल्पित था/ मैंने तो भीषण जाड़ों में/ नभ-चुम्बी कैलाश शीर्ष पर,……' आदि पंक्तियों में कवि चित्रों को यथार्थानुभव से 'दृश्य' बनाता है—दीस बनाता है—। सम्पूर्ण कविता की लय में ही वस्तुतः यह गुण निहित है।

● **प्रेत का बयान :** स्वाधीन भारत की जनता की विपन्नता, अभावग्रस्तता का व्यंग-चित्र उपस्थित करने वाली कविता है जिसके साथ कवि की करुणा भी जुड़ी हुई है। कवि यहाँ केवल वस्तुस्थिति को व्यक्त करने के लिए एक नाटकीय कौशल का उपयोग करता है—

'प्रेत ने जवाब दिया :
महाराज !
सच सच कहूँगा
झूठ नहीं बोलूँगा……'

करुणाश्रित व्यंग-कथा के केन्द्र में प्राइमरी स्तर का शिक्षक है—जिसकी 'तनखा थी तीन रुपैया/ सो भी नहीं मिली'। व्यंग यहाँ अत्यन्त निर्मम हो उठता है और भारत की सत्ता को अपना लक्ष्य बनाता है—

'साक्षी है धरती/ साक्षी है आकाश/ और और और और और भले/ नाना प्रकार की व्याधियाँ हों भारत में/ किन्तु—, उठाकर दोनों बाँह। किट किट करने लगा प्रेत—किन्तु/ भूख या क्षुधा नाम हो जिसका/ ऐसी किसी व्याधि का पता नहीं हमको/……'।

नागार्जुन की व्यंग-क्षमता उनके समकालीन कवियों में सबसे अलग पहचानी जा सकती है।

केदारनाथ अग्रवाल

जन्म : १९१२ ई०। सन् १९३० से पहले से भी रचनारत। बाँदा में वकालत करते हैं।

प्रकाशित कृतियाँ—'नींद के बादल', 'युग की गंगा', 'लोक और आलोक', 'फूल नहीं रंग बोलते हैं।' (सभी कविता-संग्रह)

प्रगतिशील चेतना के कवि केदारनाथ अग्रवाल बुनियादी तौर पर नार्मल रोमानी कवि कहे गये हैं। ऐन्द्रिक अनुभूतियों की तीक्ष्णता, भावनाओं की गूढ़ता, तरलता, भावनाओं की विशिष्ट कोमलता को भाषा देने वाली केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ प्रेम और प्रकृति के सम्बन्धों की मार्मिक अभिव्यक्ति कर जाती हैं। केदार की छोटी कविताएँ टटके बिम्बों की ताज़गी के लिए प्रसिद्ध हैं—जैसे 'जल रहा है। जवान होकर गुलाब, खोल कर होंठ, जैसे आग, गा रही है फाग।' शमशेरबहादुर सिंह के अनुसार "आज के साहित्य की नकारात्मक नैराश्यपूर्ण फ़िज़ा में केदार का स्वर एक ऐसे सजग मध्यवर्गी बुद्धिजीवी का है जो श्रम से, कर्मठता से, किसान और श्रमिक की अन्ततोगत्वा एटजुट जीवंतता से—जो प्रकृत्या कभी हार मानना नहीं जानती—और साथ ही शक्तिगर्भा प्रकृति के सौन्दर्य, नैकटच और बन्धुत्व से—और इन सबसे उपलब्ध अपने दुर्दमनीय आशावाद से जीने की प्रेरणा ले रहा है और दूसरों को दे रहा है।" केदारनाथ अग्रवाल के चित्रों की मूर्त प्रखरता उनकी काव्यानुभूति को विशिष्ट आभा प्रदान करने में सक्षम है। केदार के छन्दों में एक ऐसा 'ठेठपन' है जो ठोस अनुभवों का 'तेवर' लिए हुए है।

● **कँकरीला मैदान :** यहाँ केदार की उपमान-योजना का दूसरे कवियों से अलगाव आरम्भ में ही देखा जा सकता है—कँकरीला मैदान—'ज्ञान की तरह जठर-जड़ लम्बा-चौड़ा' है—गत वैभव की याद में विकल है और दूर तक अपने में खोया चला गया है। विकलता को रूप देने के लिए ही उसके ऊपर के पतले-पतले से डंठल के नाजुक बिरवे का ज़िक्र है—जिस पर मुँदरी-जैसा, एक अनुपम, मनहर फूल भी है। 'मुँदरी-जैसा' कहने के पीछे उस स्मृति या राग का संकेत है जो बीत चुका है, व्यर्थ हो चुका है—मीनों ने आँखों की चञ्चलता से नीले सागर के रेशम के रश्मि-तार से हर पत्ती पर जो राग अंकित किया था—प्रिय-जन को देने के उद्देश्य से—वह राग विलीन हो गया। मछलियाँ भी सूख गयीं—और अब—'आह! जहाँ मीनों का घर था। वहाँ बड़ा मैदान हो गया'। यह संकेत है कि केदार की कविताओं में एक 'नास्टेल्जिया' का भाव भी विद्यमान है।

● **शाश्वत सत्य :** कविता प्रकृति की कठोरता और काल की बर्बरता का जैसा चित्र उपस्थित करती है उसे देख कर पंत की 'परिवर्तन' कविता का ध्यान आ जाता है—यहाँ कम शब्दों में ही, ठोस दृश्य-चित्रों के द्वारा परिवर्तन की कठोरता व्यंजित है—काल के विपर्यय से सागर उद्विग्न हो उठता है, पृथ्वी अचेत—पहाड़ से खड़े उसके हाड़ अवसन्न और त्वचाहीन हो जाते हैं—आकाश धुआँ-धुंध हो जाता है, आग कुंठित कृपाण हो जाती है—'निस्तेज, बलविक्रम विहीन',—सारे के सारे विशेषण फीके, तेजरहित, समाप्ति के सूचक हैं। पर कवि का आशावाद समाप्त नहीं हुआ—क्योंकि 'सागर, पृथ्वी, नदियाँ, आकाश और आग, मार पर मार के बाद भी, समाप्त नहीं हुए'। केदार की आस्था ही उन्हें सत्य की खोज में, नये विचारों के अन्वेषण में प्रवृत्त करती है।

गजानन माधव मुक्तिबोध

जन्म : नवम्बर, १९१७ । मृत्यु : ११ सितम्बर, १९६४ । सन् १९३५ में साहित्यिक जीवन का आरम्भ । जीवन कठिन संघर्षमें बीता—भयावह और लम्बी बीमारी से संघर्ष करते हुए—अन्त ।

प्रकाशित कृतियाँ : चाँद का मुँह टेढ़ा है (कविता) ।
एक साहित्यिक की डायरी (डायरी) ।
नयी कविता का आत्मसंघर्ष (निबन्धसंग्रह) ।
कामायनी : एक पुनर्विचार (समीक्षा) ।
भारत : इतिहास और संस्कृति (इतिहास-संस्कृति) ।
काठ का सपना (कहानी-संग्रह) ।

'भारत : इतिहास तथा संस्कृति' पुस्तक का प्रकाशन कवि के जीवन की स्मरणीय घटना—यह पुस्तक मध्यप्रदेश सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकृत हुई और फिर उसी सरकार द्वारा अवैध घोषित हुई। विवादास्पद और विचारोत्तेजक कृतियों में उल्लेख्य ।

कवि के रूप में मुक्तिबोध का झुकाव 'नवक्लासिकवाद' की ओर रहा है—अर्थात् ऐसी काव्यरचना की ओर—जिसका कथ्य व्यापक हो, जिसमें जीवन के विश्लेपित तथ्यों और उनके संश्लिष्ट निष्कर्षों का चित्रण हो। जिज्ञासा के विस्तार के साथ कथा की ओर प्रवृत्ति—दार्शनिक प्रवृत्ति : 'जीवन और जगत्‌के द्वन्द्व—जीवन के आन्तरिक द्वन्द्व'—इन सबको सुलझाने की और एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्त्व-प्रणाली अथवा जीवन-दर्शन आत्मसात् कर लेने की दुर्दम प्यास मन में हमेशा बनी रही ।

मार्क्सवाद की ओर झुकाव—जो अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण जान पड़ा। कविता में फ़ैन्टेसी, नाट्यतत्त्व और औपन्यासिक शिल्प का उपयोग।

● एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्म-कथन : ['चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता-संकलन से] । इस कविता की प्रारंभिक पंक्तियाँ मोहभंग की वास्तविक स्थिति को सीधे ढंग से व्यक्त करती हैं—दुःख तुम्हें भी है, दुःख मुझे भी, हम एक ढहे हुए मकान के नीचे, दबे हैं.... पर ठीक आगे की पंक्तियों में अपनी और सार्वजनिक स्थिति का तीखा अनुभव फ़ैन्टेसी में ढलने लगता है—ढेरों पहाड़ियों की भयानकता, पसली की टूटी हुई हड्डी, छातीपर टीलों का वजन, पुराना मकान, खम्भे, चट्टानों की आन्तरिक परतें—इन चित्रों में छद्म आशा कहीं नहीं है। आशा है तो इतनी ही कि—'मिट्टी के अँधेरे उन, इतिहास-स्तरों में तब, हमारा भी चिह्न रह जायगा'। कवि जानता है कि न नाम शेष रहेगा, न कीर्ति—शेष रहेंगे 'पृथ्वी के खोये हुए गड्ढों में, रहस्यमय पुरुषों के पंजर और जंग खायी नोकों के अस्त्र'।

कविता का स्वर—'अब तो रस्ते-ही-रस्ते हैं, मुक्ति के राजदूत सस्ते हैं'—यहाँ आते-आते व्यंग्य में बदल जाता है। कवि के समक्ष तो वह कठोर प्रत्यक्ष है जिसका न कोई विकल्प हो सकता है, न कोई सरलीकरण—एक कुहरे की मेह, एक धुमैला भूत, एक देहहीन पुकार, कमरे के भीतर और इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगी, आत्म-चैतन्य के प्रकाश, भूत बन गये—इन चित्रों में आपाततः जो विसंगत तनाव दिखाई देता है वह उपर्युक्त वास्तविकता के सीधे साक्षात्कार से उत्पन्न है।

फ़ैन्टेसी और यथार्थ एक-दूसरे को काटते हुए जिस अनुभव को प्रत्यक्ष करते हैं वही इस कविता का अन्यतम वक्तव्य है—सातवें आसमान में कहीं दूर, इन्द्र के ढह पड़े महल के खँडहर को, बिजली की गेतियाँ व फावड़े, खोद-खोद, ढेर कर रहे—प्रत्यक्ष है कि महल इन्द्र का महल नहीं है—कविता एक तीखे राजनीतिक परिदृश्य को प्रकाशित करती है—शोषण के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले व्यक्ति का मिटना इसी अर्थ में 'आत्मविस्तार' कहा जा सकता है—कि वह बेकार नहीं जाता। दूसरे शब्दों में वह आत्मविस्तार इस कामना के प्रति समर्पित हो जाता है—'जमीन में गड़े हुए देहों की खाक से, शरीर की मिट्टी से, धूल से। खिलेंगे गुलाबी फूल, सही है कि हम पहचाने नहीं जायेंगे, दुनिया में नाम कमाने के लिए, कभी कोई फूल नहीं खिलता है।' हृदयानुभव—राग-अरुण, गुलाबी फूल, प्रकृति के गन्धकोष। काश, हम बन सकें। आजकल अपनी पीढ़ी की ओर से जैसी आत्मस्वीकृतियाँ व्यक्त की जा रही हैं उनकी तुलना इस कविता के वक्तव्य से सहज ही की जा सकती है। नामवर सिंह के शब्दों में "अपनी कमजोरियों का स्वीकार यहाँ भी है, किन्तु उसमें किसी प्रकार की आत्मदया का भाव नहीं है।" 'दुःख तुम्हें भी है, दुःख मुझे भी'—अनुताप तो यहाँ भी है, पर उसका स्वरूप भिन्न है—

> लेकिन, हम इसलिए
> मरे कि जरूरत से
> ज्यादा नहीं, बहुत-बहुत कम
> हम बागी थे।

यहाँ आत्मविडम्बना परिस्थिति की तीव्र विडम्बना से अभिन्न हो गयी है। इसका विश्लेषण करते हुए नाटकीय विन्यास द्वारा रचित उस स्वप्नलोक का जायज़ा लिया जा सकता है जिसमें 'अपनी कम, पराई ज्यादा' है।

● रंगों में सुलगी हुई एक सुनहली शनाख्त : यह कविता आज की दुनिया के भीतरी-बाहरी संघर्ष को और उसकी जटिलता को रूपायित करती है। कवि अपने से ही यह सवाल करता है कि 'क्यों नहीं आदमी सिर्फ आदमी है'—'उसकी प्रतिक्रियाएँ उत्तेजनाएँ सीधे-सीधे क्यों नहीं अपने को व्यक्त करतीं'—'समय को अपनी धड़कन में लेकर जीने में कठिनाई क्यों होने लगी है'—और वस्तु सत्य को इस कठोर रूप में स्वीकार

करता है—'हवा सिर पर से लहराती हुई, गुजर जाती है, धमनियों में घुस नहीं पाती, पहचानें जरा-सी छूती हैं, उड़ जाती हैं, दिल में बस नहीं पातीं'। विडम्बना यह कि वही दुनिया किसी को 'रेत के ढेर-सी' दिखती है, तो किसी को 'पके हुए बेर-सी'। हरेक को अपनी-अपनी सीढ़ी चढ़ने की फ़िक्र है। जो बाहर से जुड़ नहीं पाता अर्थात् समझौता करने में चूक जाता है वह आत्मनिर्वासित होने के लिए भी अभिशप्त है—'चूँकि मेरी उन सबसे ठनती है, इसीलिए कभी-कभी मेरी, मुझसे ही नहीं बनती है।'—कवि की ग़रीब दुनिया चलती है तो उन्हीके बदनसीब हाथों चलती है—जिनके चेहरों पर 'वीरान खँडहरों की धूप' और 'घने पेड़ों के साये' मँडलाया करते हैं जो शेष प्रकृति की तरह अपना निजी व्यक्तित्व रखते हैं और कृत्रिम सभ्यता के साँचे में ढलकर यन्त्र होने से इनकार करते हैं।

गिरिजाकुमार माथुर

जन्म : १९१८—मध्यप्रदेश के एक कस्बे में हुआ।
शिक्षा : लखनऊ विश्वविद्यालय में हुई।
सम्प्रति—ऑल इण्डिया रेडियो से सम्बद्ध अधिकारी।
कृतियाँ : मंजीर . (कवितासंकलन)
नाश और निर्माण ,,
धूप के धान ,,
शिलापंख चमकीले ,,
पृथ्वीकल्प (खण्डकाव्य)
असिद्ध की व्यथा (कविताएँ)

जैसा प्रसिद्ध कवि-समीक्षक श्री बालकृष्ण राव ने 'धूप के धान' की समीक्षा करते हुए संकेत किया है, गिरिजाकुमार माथुर प्रयोग के प्रति आस्था और गंभीरता से अग्रसर होने वाले कवि हैं। विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान देने वाले कवि के रूप में माथुर ने भाषा और व्यंजना को विशेष महत्त्व देने की चेष्टा की है। उनकी रोमानी कविताओं में छोटी—मीठी ध्वनि वाले बोलचाल के शब्दों का व्यवहार मिलता है जब कि क्लासि-कल कविताओं में बड़ी लम्बी और गंभीर ध्वनि वाले शब्द रखे गये हैं। अभिव्यंजनात्मक शब्दविन्यास नये वातावरण के रूप-भाव की उद्भावना में कितना सहायक हो सकता है यह उनके 'पतला नभ', 'सिमटी किरन', 'आदिम छाँहें', 'घूमते स्वर'—आदि प्रयोगों से प्रत्यक्ष है। 'चित्रांकन', 'रंगों का खेल', 'नये प्रयोगों का उत्सुक प्रयास'—माथुर की रुचि इन्हीं दिशाओं में प्रमुख रूप से है। गिरिजाकुमार माथुर ने अपनी कविताओं में मुक्तछन्द का सम्पूर्ण विधान रचा है। ध्वनिविधान में उनके प्रयोग मुख्यतः स्वर-ध्वनियों से सम्बद्ध हैं। पर सब मिलाकर वे उन कवियों में हैं जो आधुनिकता को वाह्य प्रक्रिया

नहीं मानते—बल्कि उसे वैज्ञानिक प्रक्रिया से उद्‌भूत मूल्य-दृष्टि मानते हैं। 'कास्मिक चेतना' को व्यक्त करने वाली माथुर की परवर्ती कविताओं में "इतिहास-निरपेक्ष अमूर्तता" अपनी तार्किक परिणतियों तक पहुँच चुकी है।

● असिद्ध की व्यथा : आधुनिक कवि-स्वभाव के द्वन्द्व की सजीव अभिव्यक्ति इस कविता में संभव हो सकी है—विपरीत छोर बहती हुई नदियाँ, अलग-अलग दिशाओं जाती नौकाएँ—ये इसी मानसिक द्वन्द्व को व्यक्त करने वाली स्थितियाँ हैं—ये संकेत हैं कि आज का मानस किस तरह असंगतियों, विपर्ययों, विडम्बनाओं से आक्रान्त है—अनुभव की संपूर्णता किस प्रकार इस संक्रमण-काल में बाधित हो रही है—'अधभोगे, अधडूबे रहे सभी कथाखंड, दूरी से छूकर ही निकल गयीं घटनाएँ, भीतर बहुत सूखा रहा, हुआ नहीं सराबोर—असिद्ध मन की व्यथा सब मिलाकर यही हैं कि उसकी दूर तहों में एक अडिग उदासीन ऊसर बैठा रहा। यह स्वीकार और अस्वीकार के अनिश्चय से ग्रस्त आधुनिक मन की नियति है कि वह सम्बोधित भी कर सकता है—तो अपनी ही आत्मा में ठहरे हुए इन्तजार को।

● भोर : एक लैण्ड्स्केप : रंग, रस और रोमान के कवि गिरिजाकुमार माथुर में नयी मनुष्यता के प्रति भविष्य के प्रति विशेष आस्था है—अँधियारे का सिंहासन लेकर सात पहरुए पश्चिम में उतर जाते हैं····तामस-शासन का प्रतीक आखिरी दीपक बुझता जाता है—और नये उजेले के प्रत्यक्ष होने तक मानवीयता नये रूप में उजागर होने के लिए कृतसंकल्प हो उठती है। इस रचना का कथ्य कुल इतना ही है और कहा जा सकता है कि "नहीं के बराबर हल्का है"। इसका शिल्प अवश्य ही सधा हुआ है और अपने स्थान पर सार्थक है।

● हेमन्ती पूनों : "मांसलता का प्रेम, रंगों के प्रति कविदृष्टि का सहज आकर्षण, नये बिम्ब निर्माण की क्षमता और आकांक्षा"—मंजीर की कविताओं के आधार पर माथुर के कवि-कर्म की ये प्रमुख विशेषताएँ लक्ष्य की गयी हैं। 'धूप के धान' की इस कविता में इन सभी विशेषताओं का सार्थक उपयोग किया गया है। 'चाँदनी-डूबी हवा सुधि-गंध लाती, याद के हिम वक्ष से आँचल उड़ाती।'—यह चित्र मांसलता के प्रति—रूप, रस और गंध के प्रति कवि के आकर्षण का ही द्योतक है। नये बिम्बों के विधान का एक उदाहरण यह है—'आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल, कौन जाने स्याह शीशा चाँद हो कल। उड़े उजली धूल बनकर चाँदनी भी, आबनूसी मूर्ति-सी हो आयु उज्ज्वल'।

धर्मवीर भारती

जन्म : १९२६ ई०—इलाहाबाद में। शिक्षा : वहीं। पहले इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग में थे। सन् '६० से 'धर्मयुग' के सम्पादक हैं।

कृतियाँ : सात गीत वर्ष (कविता)
ठण्डा लोहा ,,
कनुप्रिया ,,
अन्धायुग (काव्य नाटक)
ठेले पर हिमालय (ललित निबंध) नदी प्यासी थी (नाटक)
सिद्ध साहित्य (प्रबंध)
मानव मूल्य और साहित्य (समीक्षा)
प्रगतिवाद (समीक्षा)
गुनाहों का देवता (उपन्यास)
सूरज का सातवाँ घोड़ा ,,
पश्यन्ती (निबन्ध) कहनी अनकहनी (व्यंग-टिप्पणियाँ)

'कनुप्रिया' और 'अन्धायुग'—ये कृतियाँ भारती को रागात्मक संवेदना के एक समर्थ कवि के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। 'कनुप्रिया' की विशिष्टता इस अर्थ में है कि "इसमें राधा कृष्ण के सुपरिचित कथा-प्रतीक से नई दृष्टि और नए परिप्रेक्ष्य को अभिव्यक्त किया गया है।" पूर्वराग, मंजरी-परिणय, सृष्टिसंकल्प, इतिहास और समापन के अनुक्रम से विभक्त इस कथा की संवेदनीयता अद्वितीय महत्त्व की है और सब मिलाकर इसकी काव्यात्मकता भी अपूर्व है।

● अन्धायुग : जिसका प्रारम्भिक पर विशिष्ट प्रसंग यहाँ चुना गया है, वह काव्य-नाटक है जिसका मूल्यांकन विविध दृष्टियों से किया गया है। इस कृति में वे प्रश्न उठाए गए हैं जो आधुनिक जीवन की विसंगतियों को एक विराट् ऐतिहासिक सन्दर्भ में उद्घाटित करते हैं। इसकी कथा महाभारत के उत्तरार्द्ध की है और निरी ऐतिहासिकता तक इसकी प्रतीकात्मक व्याप्ति सीमित नहीं है। भारती आधुनिक संवेदना के कवि हैं और इन्हें रुमानी कवि कहकर टालना कठिन है।

'अन्धायुग' ५ अंकों का काव्य-नाटक है जिसकी कथा कौरवों की अंतिम पराजय-संध्या से प्रारंभ होकर कृष्ण की मृत्यु और उसके बाद, 'अन्धायुग' की परिकल्पना में समाप्त होती है। नाटक में तीन अंकों के बाद एक अन्तराल है। अंकों के शीर्षक घटनासूचक होते हुए भी गहरी प्रतीकात्मकता से संयुक्त हैं—कौरव नगरी, पशु का उदय, अश्वत्थामा का अर्धसत्य, पंख, पहिए और पट्टियाँ, विजय : एक क्रमिक आत्म-हत्या तथा प्रभु का अवसान।

प्रथम अंक में धृतराष्ट्र, विदुर, गांधारी, याचक और दो प्रहरी आते हैं। प्रहरियों की कल्पना ग्रीक कोरस के निम्नवर्गीय पात्रों के आदर्श पर है। पहले अंक के प्रारंभ में लोक नाट्यपरम्परा से गृहीत कथा-गायन की योजना है। इस कथा-गायन में सब कुछ कह दिया गया है। जैसे,

"अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन, दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा, दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन।" कहा जा सकता है कि जटिल नाट्यगर्भित घटनाओं, विचारों के इस काव्य-नाटक में केवल शंकाएँ उठायी गयी हैं। भारती के अनुसार प्रश्न तथा समाधान में मानवीय आचरण विभाजित नहीं किया जा सकता—इस दृष्टिक्रम में सन्देह की भी एक सार्थक मूल्यवत्ता है।

'अंधायुग' का संवाद मुक्त छन्दों में है और उसका रेटारिक नाटकीयता से अधिक वर्णनात्मकता पर बल देता है।

विजयदेवनारायण साही

जन्म : ७ अक्तूबर, १९२४ में। प्रारम्भिक शिक्षा काशी में और बाद में प्रयाग में। प्रयाग से सन् १९४८ में अंग्रेजी में एम. ए.। उसके बाद तीन वर्ष काशी विद्यापीठ में और सन् १९५१ से प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापक।

प्रकाशित कृति : 'मछलीघर' (कविता-संकलन)

साही की कविता इतिहास के उस दबाव से परिचित है जहाँ "वे सारे रास्ते बन्द कर दिये गये हैं, जिनसे होकर चमकता हुआ जोखम प्रवेश करता है और खून की आखिरी बूँद तक को आत्मा में बदल डालने की माँग करता है।" साही की दृष्टि में सृजनशीलता इसीलिए सृजनशीलता है कि "वह आसान रास्ता छोड़कर नये रास्ते तैयार करती है जो शब्दों की परिपाटीग्रस्त अभिव्यक्ति और बाजारू अभिव्यक्ति, इन दोनों खतरों से बचाकर जीवित अभिव्यक्ति बनाती है।"

विजयदेवनारायण साही की कविताओं में मुक्तिबोध की कविताओं जैसी फैन्टेसी अक्सर मिलती है और उन्हीं की तरह यह फैन्टेसी उनकी कविता में एक प्रकार के 'साहस-रोमान्स' को जन्म देती है। कवि के बिम्ब जैसे, 'अँधेरे गोलार्ध', 'वेगवान नदियाँ', 'गुप्त बरफीले शिखर', 'आदिम अंधकार', 'पारदर्शी तिलिस्म', 'द्युलोक से परे चमकीले ब्रह्माण्ड', 'हिरण्यमय ढक्कन', 'अग्निकुण्ड में बलखाती मणियाँ', 'विक्रमाङ्कों के नीले संवत्सर', 'मृत्यु के सुनसान दर्पण में फुँफकारता अग्निकमल' आदि) शब्दों, मुहावरों को नयी अर्थक्षमता देने की कोशिश करते हैं। एक ही साथ इतिहास में और इतिहास के बाहर—साही की सृजन-प्रक्रिया का यह एक विशिष्ट पहलू है। कहा जा सकता है कि साही जटिल वास्तविकता की एक-एक रेखा उभारने वाले और इस माध्यम से जीवन-मूल्यों के कठिन संघर्ष को भाषा देने वाले कवि हैं।

● अलविदा : कविता किसी अर्थ में नाटकीय एकालाप है जिसमें फैन्टेसी एक विशिष्ट पटकथा का निर्माण करती है। लम्बी कविता की विशिष्ट नाटकीयता और कथानक-

विशेष का साभिप्राय उपयोग यहाँ भी है। इस कविता की विशेषता इसके स्वर की 'आग्रहहीनता' के कारण मानी गयी है—

'मैं नहीं जानता कि मेरा चेहरा, तुम्हें किन सुनसान समुद्र तटों, या अँधेरी गुफाओं, या शान्त डरावने शिखरों की याद दिलाता है। लेकिन सच यह है, कि मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे मैं तुम्हें दे जाऊँ'।

क्या निर्णय-क्षण की अनुभूति, क्या आत्मस्वीकृति—सबके वर्णन में स्वल्पकथनशैली का उपयोग किया गया है। 'अलविदा' में काव्यानुभूति की तीव्रता इस दृष्टि से स्वीकार की गयी है कि "यहाँ निर्णय लेने से ठीक पहले की मनःस्थिति के अनुभूतिगत चाप को शब्दों में पूरी कलात्मकता के साथ रख दिया गया है।" इस दृष्टि से ये पंक्तियाँ विचारणीय हैं—

"सुबह शायद एक नये घटनाक्रम का आरम्भ होगा/हो सकता है तब मैं न रहूँ/ शायद मेरा न रहना भी/ उस घटना-क्रम की जरूरी कड़ी हो/ क्योंकि उस अप्रत्याशित को/ न मैं जानता हूँ/ न तुम/ न रेत में चमकती हुई तसवीरें/ न ये पत्थर/ न वनस्पतियाँ, जो इन्तजार कर रही हैं/ मगर मुझे कोई गम न होगा, क्योंकि मुझे जिन शर्तों से बाँध दिया गया है/ वहाँ इन्तजार और अस्तित्व दो चीजें नहीं-हैं।"

इस कविता का वक्तव्य कहीं न कहीं एक ठोस मूर्त परिदृश्य से जुड़ा हुआ है इसीलिए उसका प्रतीकात्मक अभिप्राय कतिपय समीक्षकों को राजनीतिक दृष्टि के समीप जान पड़ता है।

● मछलीघर : शीर्षक कविता का सम्बन्ध अवश्य ही कवि की रचना-प्रक्रिया से है—सृजनप्रक्रिया की खोज में कवि अपने चिन्तनशील स्वभाव को ही जाँचने की कोशिश करता है—इस खोज की एकात्मकता ही वह धरातल है, जहाँ समय और स्थान का संघर्ष और सहअस्तित्व घटित होता है। कविता का आरम्भ ही इसका प्रमाण है कि साही के लिए कवि-कर्म सतही सच्चाइयों को अतिक्रान्त कर दूरगामी यथार्थ को पाने का साधन है—एक विशिष्ट साधन—"मैं तुम्हें निमंत्रित करता हूँ/ कि मेरे साथ इस कल्पित खिड़की तक आओ/ और ठंडे काँच की दीवार को, होठों से छुओ यह स्पर्श तुम्हें परिशोधित कर देगा/ऊँचे शिखर की हवा की तरह।"

कुँवरनारायण

जन्म : सन् १९२७ में—फैजाबाद में। शिक्षा : लखनऊ विश्वविद्यालय में। १९५५ ई० में चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, रूस और चीन का भ्रमण किया जिसने कई दृष्टियों से मन को प्रभावित किया। कुछ दिनों तक 'युगचेतना' नामक साहित्यिक-मासिक पत्र का सम्पादन किया।

प्रकाशित कृतियाँ : चक्रव्यूह (कविताएँ)
परिवेश : हम तुम ,,
आत्मजयी (काव्य)

कुँवरनारायण की कविताओं में वैज्ञानिक दृष्टिकोण मुख्यतः तीन प्रकार से अभिव्यक्त हुआ है : विचार-पक्ष की प्रधानता, कविता का संगठन और प्रयोग। प्रयोग कुँवरनारायण की दृष्टि में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का स्वाभाविक उपप्रमेय है, एक ऐतिहासिक आवश्यकता है। 'चक्रव्यूह' से 'आत्मजयी' तक कुँवरनारायण को जीवन और अस्तित्व की मौलिक समस्याएँ बेचैन करती रही हैं—उनके अध्ययन-चिन्तन की छाप भी उनकी बेचैनी पर कम नहीं—जिसे लक्ष्य कर कवि-समीक्षक श्री बालकृष्ण राव ने लिखा है—"श्री कुँवरनारायण की कविता उस अधुनातन भारतीय व्यक्तित्व की प्रतिच्छवि है जो मूलतः भारतीय होते हुए भी अध्ययन, चिन्तन और सम्भवतः उससे अधिक स्थूल सम्पर्कों के प्रभाव से बहुत कुछ देशेतर गुणों, रुचियों और प्रवृत्तियों से समन्वित हो गया है। सहसा ऐसा लग सकता है कि श्री कुँवरनारायण पर न केवल अंग्रेजी कविता का गहरा प्रभाव पड़ा, बल्कि उनकी काव्य-प्रेरणा ही सीधे अंग्रेजी साहित्य से आयी है। पर जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, यह प्रभाव केवल प्रभाव ही है, उनके काव्य की मूल प्रेरणा भारतीय ही है।"

● ये पंक्तियाँ मेरे निकट : किसी अर्थ में कुँवरनारायण की यह कविता भी रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी समस्याओं की ओर संकेत करती है। एक स्तर होता है हमारे अनुभव का, और दूसरा हमारी भाषा का। दूसरे स्तर की वास्तविकता से हम जब पहले स्तर की वास्तविकता का प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं तो कुछ न कुछ छूट जाता है—वे ढीठ, उच्छृङ्खल, अबाध्य इकाइयाँ—व्यक्ति मन की वे एकान्त सच्चाइयाँ—कितना कठिन होता है उन्हें समेट पाना। कवि की कठिनाई यह भी है कि वह अपने अकेलेपन में ऐहिक सिलसिलों से दूर परायी जान पड़ने वाली पंक्तियों से ही उलझता है और उन्हीं में अपने को पाता है।

● तुम्हें पाने की अदम्य आकांक्षा : 'चक्रव्यूह' की समीक्षा करते हुए डॉ० जगदीश गुप्त ने लिखा था : "देह पक्ष को लेकर लिखी गई कुँवरनारायण की कई रचनाओं में गतानुगतिक क्रियाओं में क्षरित होने वाले जीवन की कचोट तथा उससे उत्पन्न रिक्तता को पूरने की अकुलाहट स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है।" प्रस्तुत कविता में इस द्वन्द्व का अनुभव किया जा सकता है जिसमें इन्द्रियानुभूति की सीमा से परे ले जाने वाली तीव्र चेतना विद्यमान है—कविता का आरंभ ही इस स्थिति को, इस विपर्यय को बड़े सटीक ढंग से व्यक्त करता है—

'तुम्हें पाने की अदम्य आकांक्षा/ देह की वन्दी है/ तुम्हें देह तक लाने की इच्छा तो/ शव-सी गन्दी है।'

कवि के अनुसार 'अनुरक्ति' वह है जिसमें दूसरों के सुख-दुख को देखा जा सके। पर परिस्थिति ऐसी है कि 'सितारे ही दूरी को दुहराते हैं' और अन्ततः मन को आकाश-सा सूना कर जाते हैं।''

यह कविता संकेत है कि कुँवरनारायण उन कवियों में हैं जो मानवीय अस्तित्व की समस्याओं से विचारों के स्तर पर साक्षात् करते हुए ही उन्हें काव्यानुभूति का अंग बनाना चाहते हैं--कविकर्म उनके लिए ऐसी समस्याओं से छूट बनकर नहीं आता—साक्षात्कार की प्रक्रिया के रूप में ही उसकी उपयोगिता उन्हें स्वीकार्य जान पड़ती है।

रघुवीर सहाय

जन्म : लखनऊ, ९ दिसम्बर, १९२९। शिक्षा : वहीं (अंगरेजी साहित्य में एम० ए०)। पहले 'प्रतीक', 'वाक्' और 'कल्पना' के सम्पादन मण्डल में रहे--फिर 'आकाशवाणी' से सम्बद्ध—नवभारत टाइम्स के विशेष संवाददाता के रूप में कार्य करने के बाद सम्प्रति 'दिनमान' के कार्यकारी सम्पादक।

प्रकाशित कृतियाँ : सीढ़ियों पर धूप में (कविता-कहानी-निबंध)
आत्महत्या के विरुद्ध (कविता-संग्रह)

अपनी कला के प्रति विशेष सजग, रघुवीर सहाय का प्रयत्न रहा है कि सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक से अधिक जागरूक रहा जाए और वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझा जाए। (वक्तव्य, दूसरा सप्तक)

'सीढ़ियों पर धूप में' संग्रह की कविताएँ इस दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण हैं कि वे पहली बार एक उदार मुक्त संवेदना का—खुलेपन का 'संसार' रचती हैं जिसे हम दे दिए जाते हैं।' इस संसार के कितने ही सुखात्मक और मार्मिक पहलू उन कविताओं में उजागर हैं—जैसे जीने की सच्ची आकांक्षा, प्रेम की सुखद आत्मीयता, दृश्य-चित्रों के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तरों की पहचान, सुख-साधनों के बीत जाने पर भी रचनात्मक संभावनाओं की खोज आदि। यह नहीं कि 'आत्महत्या के विरुद्ध' संग्रह में इनका नितान्त निषेध ही हो—पर अवश्य ही इन कविताओं में ''दुनिया के दूसरे अनेक बहुरूपी पहलुओं से सम्पर्क बढ़ता लगता है और इन नये सम्पर्कों की आँच से निकली भाषा पर कुछ नये संस्कारों की छाप पड़ी है। यह विकास-क्रम निजत्वों के संसार से घनिष्ठता स्थापित करने के बाद समूहों के संसार को भी ढूँढ़ने के क्रम को जाहिर करता है।''

रघुवीर सहाय की कविता ''संवेदना के स्तर पर जिस तरह बदली है, भाषा का इस्तेमाल भी उसके समकक्ष उसी तरह बदला है।'' कविता की प्रचलित भाषा से अलग यहाँ कहीं अधिक खुली हुई भाषा है ''जो आज की दुनिया के तमाम सम्बन्धों और असलियतों को, रोजमर्रा के घुलते-मिलते या टकराते जीवन-प्रसंगों को, ऊँची और टुच्ची

आकांक्षाओं को, सृजनात्मक शक्तियों और अवरोधों को हमारे इतने नजदीक लाती है कि इनमें शरीक होकर भी इनसे परिचित होना चमत्कार की तरह जान पड़ता है।"
[द्रष्टव्य : परिसंवाद : कल्पना : २१७ : ओमप्रकाश दीपक, कमलेश, परमानन्द श्रीवास्तव]

● **दे दिया जाता हूँ :** यदि कविता को कवि के 'अमित जीने का साक्ष्य' होना चाहिए, तो यह कविता इस दृष्टि से रघुवीर सहाय के कवि-स्वभाव को सर्वाधिक व्यक्त करती है। यहाँ कविता 'जीने के कर्म को उसकी मानवीयता और गरिमा में' अमित शक्ति के साथ प्रत्यक्ष करती हुई दिखाई पड़ती है। जीवन में अधिक गहरे डूबने और उससे संसक्त होने का प्रमाण इस कविता में उपस्थित है—'एक खुले मैदान में हवा फिर से मुझे गढ़ देगी, जिस तरह मौके की माँग हो और मैं दे दिया जाऊँगा।' कविता का अन्त दुनिया और कवि के सम्बन्ध को या विलगाव को इस रूप में व्यक्त करता है—'किसी शाप के वश बराबर बजते स्थानिक पसन्द के परेशान (इस विशेषण पर और इसकी काव्यात्मक अर्थवत्ता पर ध्यान दिया जाय) संगीत में से/एकाएक छन जाता है मेरा अकेलापन/आवाज़ों को मूर्खों के साथ छोड़ता हुआ/और एक गूँज रह जाती है शार के बीच जिसे सब दूसरों से छिपाते हैं/नंगी और बेलौस/ और मैं उसे दे दिया जाता हूँ'। इन पंक्तियों को देखते हुए अनुभव किया जा सकता है कि यहाँ (और इसी प्रकार 'सीढ़ियों पर धूप में' की अधिसंख्य कविताओं में) कवि 'अपने और दुनिया के बीच जिस तनाव का अनुभव करता है वह बहुत कुछ व्यक्ति और समूह के बीच सम्बन्धों का तनाव है।' 'सम्बन्धों का वैयक्तिक आग्रह' इस कविता में जहाँ-तहाँ पहचाना जा सकता है—'मेरे पिता की स्पष्ट युवावस्था', 'और जिन्दगी के अन्तिम दिनों में काम करते हुए बाप काँपती साइकिलों पर, भीड़ में से रास्ता निकाल कर ले जाते हैं।'

● **आत्महत्या के विरुद्ध :** यह कविता भी 'नाटकीय एकालाप' ही है पर कथ्य और संरचना दोनों दृष्टियों से इसका प्रभाव सर्वथा अलग है। कविता में जिस वाक्यांश को बार-बार दुहराया गया है—वह है 'समय आ गया है।' जैसे—'समय आ गया है जब तब कहता है संपादकीय', 'गरजा मुस्टंडा विचारक—समय आ गया है', 'समय आ गया है/ दस बरस बाद फिर पदारूढ़ होते ही/ नेतराम पदमुक्त होते ही न्यायाधीश/ कहता है समय आ गया है/ मौका, अच्छा देखकर प्रधानमन्त्री/पिटा हुआ दलपति अखबारों से/ सुन्दर नौजवानों से कहता है गाता-बजाता/ हारा हुआ सारा देश'/ इत्यादि; यहाँ प्रत्येक सन्दर्भ में एक ही वाक्य अपनी 'आवृत्ति के बावजूद नया अर्थ ध्वनित करता है।' कहीं यही वाक्य विडम्बना को प्रत्यक्ष करता है, कहीं झुँझलाहट को और कहीं किसी हास्यास्पद स्थिति को। रघुवीर सहाय ने आवृत्ति के लिए जो वाक्यांश चुना है उसकी अर्थवत्ता गहरी है। उसमें अनेक अर्थों की सम्भावना निहित है। जीवन में रोज ही दर्जनों बार हम इसी वाक्यांश का प्रयोग करते हैं—समय आ गया है—घिसते-घिसते यह

प्रयोग निरर्थक परिणति को प्राप्त कर चुका है। इसीलिए 'आत्महत्या के विरुद्ध' के कवि रघुवीर सहाय ने पीड़ा के साथ और कुछ व्यंग के साथ भी कहा है—'समय जो गया है/ मेरे तलुवे से छनकर पाताल में/ वह जानता हूँ मैं।' 'कविता के नए प्रतिमान' में नामवरसिंह ने इस कविता की मन्द्र मन्थरता की नाटकीयता को लक्ष्य कर लिखा है—"आत्महत्या के विरुद्ध' की लय में मन्द्र मन्थरता नहीं, बल्कि आवेश में हाँफते हुए स्वर की त्वरा है—इसीलिए एक वाक्य जैसे दूसरे वाक्य के अन्दर घुसा हुआ तीसरे वाक्य को आगे धक्का देता-सा प्रतीत होता है। आविष्ट लय का यह प्रवाह कविता की इन पंक्तियों के अर्थ से जुड़ा हुआ है"—पंक्तियाँ हैं—'कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा/ न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अन्दर एक कायर उठेगा टूट/ मेरे मन टूट एक बार सही तरह/ अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ अब मत रूठ/ मत डूब सिर्फ टूट', उपर्युक्त पंक्तियों में अनुप्रास योजना है अवश्य और 'टूट' की आवृत्ति भी है—किन्तु 'आवेश के श्वास चाप में शब्दों के प्रयोग में' कौशल डूब जाता है और कविता का प्रभाव ही छनकर शेष रह जाता है। कविता का वक्तृत्व गुण ही उसके मूल अर्थ को व्यंजित करने में समर्थ हो सका है। कविता की इस संरचनात्मक सघनता को पहचान कर ही यहाँ काव्यानुभूति के मर्म तक पहुँचा जा सकता है।

केदारनाथ सिंह

जन्म : १९३२ ई०—सामान्य किसान परिवारमें। शिक्षा : हिन्दू विश्वविद्यालय में हुई। 'बिम्ब विधान'पर शोध-कार्य करके पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। तभीसे अध्यापक। रुचियों का क्षेत्र सीमित—कविता, संगीत, अकेलापन—विशेष प्रिय। सम्प्रति राजनीतिक संक्रमण के प्रति बेहद जागरूक।

प्रकाशित कृतियाँ : अभी बिलकुल अभी (कविता-संग्रह)।
कल्पना और छायावाद (आलोचना)।

केदारनाथ सिंह ने पहले की कविताओं में सबसे अधिक ध्यान बिम्बविधान, जो विषय को मूर्त बनाता है, पर ही दिया है और अनुभव किया है कि 'बिना चित्रों, प्रतीकों, रूपकों और बिम्बों की सहायता के मानव-अभिव्यक्ति का अस्तित्व प्रायः असम्भव है।'

केदारनाथ सिंह की कविताओं में अस्पष्टताबोधक चित्र हैं अवश्य, पर उन्हीं में वे सूक्ष्म रेखाएँ भी हैं जो बोध को विशेष अर्थ प्रदान करती हैं—'उनके लक्ष्यहीन मोड़ों पर खिंचे हुए रोली के हल्के इशारे हैं। दिशाहीन चिड़िया के पर में आकांक्षा के जीवित रेशे हैं।' अनागत है तो 'हाथ उसके हाथ में आकर बिछल जाते हैं।' 'पुल अजन्मे हैं, लेकिन हवाओं में तैरते हैं।' पर इसके बाद भी केदार का युग-बोध अनिश्चय-

वादियों से भिन्न है। उनके काव्य-चित्र उन 'मनःस्थितियों' के सूचक हैं—'जो अपने दायरे को तोड़कर व्यापक वास्तविकता का सामना करने की आकुलता जगाती है। (नये नाम के अनवरत अन्वेषण में, नामवर सिंह, विवेक के रंग) इधर की कविताओं में केदार आज की चरम अमानवीय स्थिति या मानवीय नियति की चरम अमानवीय परिणति को सीधी भाषा देना चाहते हैं—उन्होंने अपनी बिम्बधारणा को अपर्याप्त और एकांगी बताया है और वे गद्य, गद्य में भी उपन्यास और नाटक की भूमि पर कविता की सर्जनात्मक समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने में तत्पर हैं।

• अनागत : कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों से ही लगता है कि अनागत अमूर्त है, किन्तु कवि-दृष्टि उसकी आहट को अपने परिवेश या वातावरण में देख लेती है और 'वातावरण के उन मूर्त सन्दर्भों के द्वारा अमूर्त अनागत को मूर्त करने का प्रयास करती है।' इन्हीं जीवन्त सन्दर्भों के चलते 'अनागत एक निराकार भविष्य के स्थान पर जीवित सत्ता' की तरह जान पड़ता है। कभी वह प्रेत-छाया के समान किताबों में घूमता है, कभी रात की वीरान गलियों पार गाता है। इसी प्रकार वह कभी बाँसुरी को छेड़ता है, कभी खिड़कियों के बन्द शीशे तोड़ जाता है, कभी किवाड़ों पर लिखे नामों को मिटाते हुए बिस्तरों पर अपनी छाप अंकित कर जाता है। उसके आने की रहस्यमयता ऐसी है कि हर नवागन्तुक उसीकी तरह लगता है। प्रत्यक्ष है कि आस-पास के वातावरण से जो वस्तुएँ चुनी गयी हैं वे मन में निराकार और रहस्यमय अनागत की गतिविधियों को सजीव, मूर्त और दीप्त बनाती हैं। पर आगे की पंक्तियों में जो जटिल और ताजे बिम्ब आमने-सामने रखे गये हैं—

फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही चीखता हो
इस तरह वह दस्तकों में कौंध जाता है

उनका विश्लेषण करते हुए कविता की बिम्बधर्मी असंगतियों का कुछ अनुमान किया जा सकता है। कविता का वक्तव्य यही है कि भविष्य यहीं-कहीं, आस-पास ही है, पर उसका रूप अनिश्चित अज्ञात है—हालांकि 'हम उसकी ओर बरबस खिंचे जाते हैं।'

• फर्क नहीं पड़ता : यह कविता १९६० ई० के बाद की उस काव्य-प्रवृत्ति को सूचित करती है जो बिम्बधर्मिता की निरर्थकता का अनुभव कराती है। यहाँ समस्या परिस्थितियों के सीधे साक्षात्कार की है—क्योंकि :

चीजें एक ऐसे दौर से गुजर रही हैं,
कि सामने की मेज को सीधे मेज कहना,
उसे उठाकर अज्ञात अपराधियों के बीच रख देना है।

और भाषा अकारण ही, वक्तव्य की भाषा नहीं है—'तुमने जहाँ लिखा है 'प्यार'

वहाँ लिख दो सड़क/फ़र्क नहीं पड़ता/मेरे युग का मुहावरा है/फ़र्क नहीं पड़ता।' मानव स्थिति की वह क्रूर विडम्बना—जिसके सामने 'हर जिज्ञासा रेलवे टाइम टेबुल से शांत हो जाती है'—वक्तव्य की सीधी भाषा में ही अपने को व्यक्त कर सकती है। यहाँ न कोई चित्रमयता है, न काव्योचित अलंकृति। यह कविता '६० के बाद के भारतीय जीवन में घटित होने वाले व्यापक मोहभंग के कारण कविता के बदले हुए परिप्रेक्ष्य को सूचित करती है—जहाँ किसी चीज से—शब्द तो अपर्याप्त हैं ही—कोई फ़र्क नहीं पड़ता—वह स्थिति अमानवीयता की चरम परिणति को ही सामने लाती है।

श्रीकान्त वर्मा

नयी कविता के विकास के साथ उभरने वाले महत्त्वपूर्ण कवियों में से एक। जन्म : मध्यप्रदेश में। पहले शिक्षक, फिर स्वतन्त्र लेखन और पत्रकारिता—'कृति' साहित्यिक मासिक पत्र का सम्पादन। सम्प्रति 'दिनमान' समाचार-विचार-साप्ताहिक के विशेष संवाददाता।

प्रकाशित कृतियाँ—भटका मेघ (कविता-संग्रह)।
माया-दर्पण (कविता-संग्रह)।
दिनारम्भ (कविता-संग्रह)।
दूसरी बार (उपन्यास)।
झाड़ी (कहानी-संग्रह)।
संवाद (कहानी-संग्रह)

श्रीकान्त की कविता में समकालीन वास्तविकता तीखी चेतना व्यक्त हुई है। छोटी कविताओं में श्रीकान्त की अभिव्यक्ति 'स्निग्ध' और 'आत्मकथ्यात्मक' है जबकि लम्बी कविताओं में वह विस्तृत परिदृश्य प्रत्यक्ष हो उठता है जिसमें समय का मोहभंग, आक्रोश, घृणा, विद्रोह सब कुछ अनुभाव्य हो। श्रीकान्त वर्मा ने अन्तःअनुप्रास के खिलवाड़ से और प्रायः विरोधी वस्तुओं और स्थितियों के संयोजन से अर्थचमत्कार एवं 'कविता की संरचना में' विशेष कसावट का निर्माण किया है। श्रीकान्त की यह विशेषता केवल शिल्प या संरचना का अंग नहीं है वह उनके दृष्टिकोण को भी सूचित करती है।

● माया-दर्पण : 'माया-दर्पण' संग्रह से ली हुई, इसी शीर्षक की इस लम्बी कविता में श्रीकान्त का काव्य-शिल्प देखा जा सकता है जो अन्तःअनुप्रास के उपर्युक्त खिलवाड़ से ही विसंगत स्थितियों को, अतार्किक स्थितियों को, उनके समस्त तनाव के साथ गम्भीर परिणति तक ला देता है। 'मैं अपनी करतूतों का दारोगा हूँ/ नहीं एक रोज-नामचा हूँ/ मुझ में मेरे अपराध/ हूबहू कविताओं से/ दर्ज हैं/ मर्ज हैं/ जितने/ उनसे

ज्यादा इलाज हैं।' कथ्य की अर्थ-गम्भीरता के अभाव में तुकों का खिलवाड़ निरा खिलवाड़ रह जाता जब कि यहाँ वह अर्थक्षमता में वृद्धि करता है। 'मैं हरेक नदी के साथ/ सो रहा हूँ/ मैं हरेक पहाड़/ ढो रहा हूँ/ मैं/ सुखी/ हो रहा हूँ/ मैं दुःखी/ हो रहा हूँ/ मैं सुखी-दुःखी होकर/ दुःखी-सुखी/ हो रहा हूँ/ मैं न जाने किस कन्दरा में/ जाकर चिल्लाता हूँ : मैं/ हो रहा हूँ : मैं/ हो रहा हूँ।' आरम्भ का शब्द कौतुक यहाँ अन्त तक आते-आते सर्वथा गंभीर अर्थव्यंजना ग्रहण कर लेता है। यही कविता का 'अर्थगौरव' है। 'मगर खबरदार/ मुझे कवि मत कहो/ मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ/ ईजाद करता हूँ/ गाली/ फिर उसे बुदबुदाता हूँ/ मैं कविताएँ बकता नहीं हूँ'—ऐसे अंशों की अतिनाटकीयता किसी अर्थ में कविता की सीमा भी कही जा सकती है।
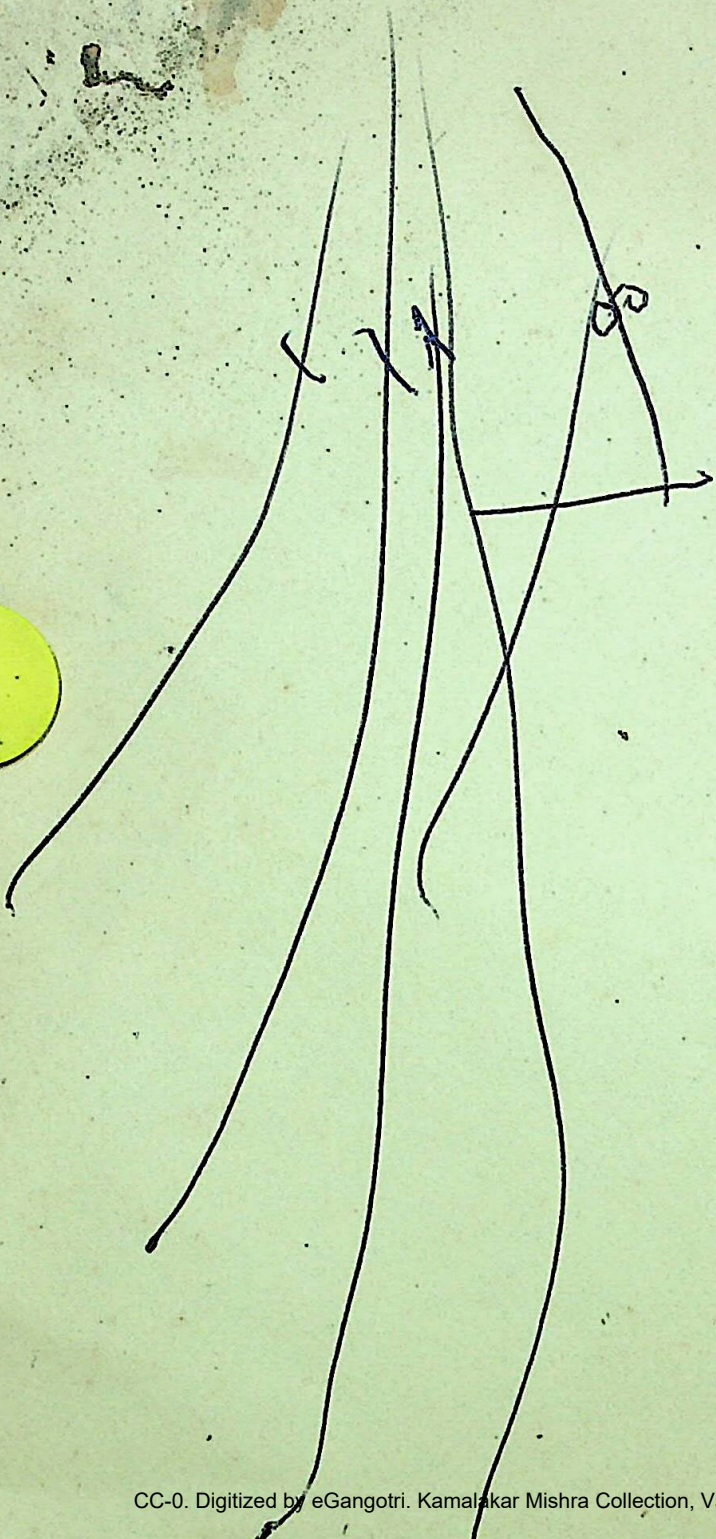
अन्य कृतियाँ

● **रेखायें और रेखायें**

संपादक : सुधाकर पाण्डेय तथा
डॉ० विश्वनाथप्रसाद तिवारी
विभिन्न साहित्यकारों द्वारा रचित
२० मर्मस्पर्शी रेखाचित्रों का
संकलन तथा विस्तृत भूमिका ३-००

● **भोर का आवाहन**

डॉ० विद्यानिवास मिश्र
१५ व्यक्ति-व्यंजक एवं ललित
निबन्धों का संकलन
प्रस्तुतकर्ता : डॉ० शिवप्रसाद सिंह ३-००

● **हारूँगी नहीं**

द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'
संघर्षरत नारी के अडिग धैर्य, त्याग
और बलिदान स्नेह और मातृत्व को
लज्जा और शील की गाथा सुनाती
६ कहानियाँ ४-५०

● **पद्य-भारती**

संपादक : परमानन्द गुप्त
१८ आधुनिक और ६ प्राचीन
कवि-कृतियों का संकलन,
परिचय, समीक्षा १-५०

● **प्रतिनिधि कहानियाँ**

सम्पादक : डॉ० बच्चन सिंह
१२ कहानीकार, १२ कहानियाँ,
विचारपूर्ण भूमिका ३-५०

अनुराग प्रकाशन, वाराणसी